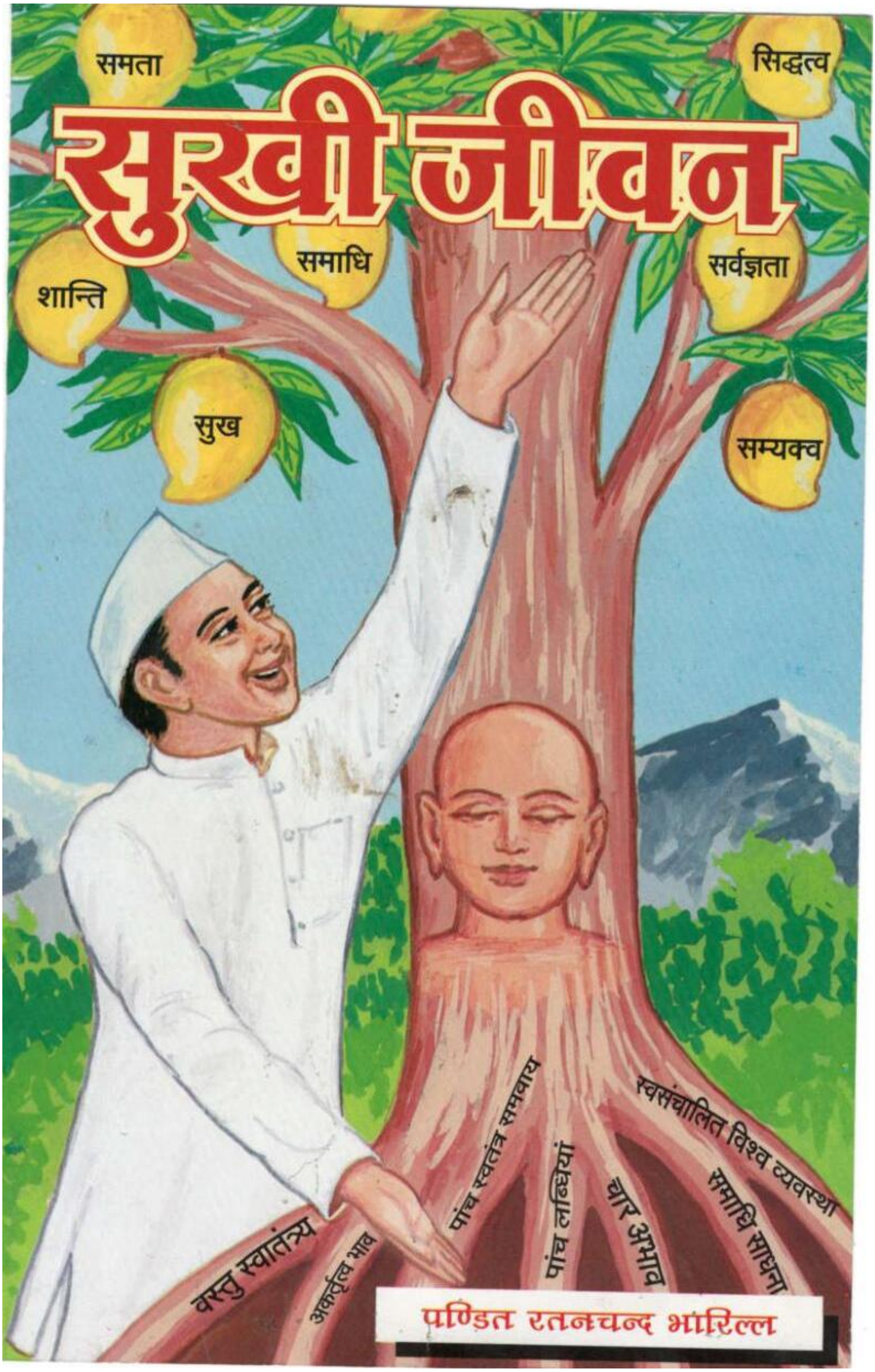
समता
सिद्धत्व
सुखी जीवन
समाधि
सर्वज्ञता
शान्ति
सुख
सम्यक्त्व
वस्तु स्वातंत्र्य
अकर्तृत्व भाव
पांच स्वतंत्र समवाय
पांच लब्धियां
चार अभाव
स्वसंचालित विश्व व्यवस्था
समाधि साधना
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

आत्मकथ्य-

सुखी जीवन

मानव जीवन, जैन कुल,
समयसार सा शास्त्र और
क्षयोपशम, देशना, विशुद्धिलब्धि
पाकर भी–
यदि नहीं सीख पाये सुखी जीवन की कला
और नहीं टाल पाये आर्त-रौद्र की बला
तो निश्चित समझो ! यों ही चलता रहेगा,
दुःखी-जीवन का सिल-सिला

*　　*　　*

कहान से महान सत्पुरुष के
समयसार पर हुये मार्मिक प्रवचन
और परमागम पर हुए सूक्ष्म अनुशीलन
को पढ़कर भी–
यदि हम नहीं पा सके सम्यग्ज्ञान कला,
नहीं मेट पाये मिथ्यात्व का जल-जला
तो आप ही सोचो !
कैसे होगा आत्मा का भला ?

*　　*　　*

वस्तुस्वातन्त्र्य, निमित्तोपादान और
सर्वज्ञता के सन्दर्भ में क्रमबद्धपर्याय जैसे
पतित पावन जैन सिद्धान्तों को
सुनकर भी–
जो नहीं समझ सके शुद्धात्मा, कारण परमात्मा,

पाँच समवाय और कारण-कार्य सम्बन्ध
तो मानना होगा कि –
हमारा जीवन है किन्हीं पूर्वाग्रहों में पला
कषायों से कुन्ठित और मिथ्यात्व से छला
* * *
काश ! अपने ही घर में पतिदेव
या पिता श्री हों अध्यात्म के ज्ञाता,
और हों वे लोकप्रिय प्रवचनकार
कुशल उपदेशदाता
फिर भी पत्नी, पुत्र व परिवार
रह जाएँ तत्त्वज्ञान से वञ्चित,
और करते रहें पुण्य-पाप सञ्चित
तब तो कहना ही होगा कि –
यही तो है 'दिया तले अंधेरा'
कैसे टूटेगा यह मोह-माया का घेरा ?
* * *
थोड़ी सी बाह्य अनुकूलता पाकर
यदि चूक गये यह स्वर्ण अवसर
तो दुर्गति में हमारा ही आत्मा
हम से पूछेगा–
क्या पाया है तूने ! पर व पर्यायों में उलझकर ?
अतः क्यों न सीख लें/समझ लें
इन सुखद सिद्धान्तों को
और सफल कर लें अनुकूल संयोगों को
इसी में है हम सब का भला
यही है सुखी जीवन की कला

– रतनचन्द भारिल्ल

एक

"क्यों निजानन्दजी ! क्या कल आपने कॉलेज में मेरा संगीत का कार्यक्रम देखा था ?"

"हाँ, देखा तो था; पर पूरा नहीं ....."

"ठीक है, जितना देखा, उतना ही सही; पर वह लगा कैसा?"

"सरला ! सच तो यह है कि मुझे तुम्हारे इन कला के कार्यक्रमों के देखने/सुनने में दिलचस्पी ही नहीं है; परन्तु ....."

"जब दिलचस्पी ही नहीं है तो यह किन्तु-परन्तु क्यों ..... ? मैं समझ गई, आपके बिना कहे ही समझ गई ..... ।"

"तुम क्या समझ गईं ?"

"यही कि – आप विज्ञान जैसे नीरस विषय के विद्यार्थी जो ठहरे ।"

"सरला ! ऐसी कोई बात नहीं है, तुम मेरे कारण विज्ञान को बदनाम क्यों करती हो ? विज्ञान के तो बहुत से विद्यार्थी तुम्हारी इन कलाओं में रुचि रखते हैं। तुम्हारे साथ गिटार बजानेवाला व्यक्ति हमारी कक्षा का विद्यार्थी ही तो है। पर न जाने क्यों ? मुझे ही इन कलाओं में रस नहीं आता; फिर भी मैंने कल का तुम्हारा वह भजन पूरा सुना था।"

"कौनसा भजन ? मैने तो कई भजन और गीत गाये थे।"

"वह भजन, जिसके बोल थे –

अरे जिया ! जग धोखे की टाटी।।
झूठा उद्यम लोग करत हैं, जामैं निशदिन घाटी।
जान-बूझ के अन्ध बने हैं, आँखिन बांधी पाटी।।
निकल जायेंगे प्राण छिनक में, पड़ी रहैगी माटी।
'दौलतराम' समझ मन अपने, दिल की खोल कपाटी।। अरे०।।

"ओह ! इतने भजनों में और गीतों में आपको केवल यह भजन पसन्द आया ? क्या किसी से; कहीं-कोई बड़ा धोखा खा बैठे हो ?"

"अरे ! भजन तुमने गाया और यह प्रश्न मुझसे पूछ रही हो। यदि यही प्रश्न मैं तुमसे पूछ लूँ तो ..... ?"

"हमारा क्या ? हम भजनों के अर्थ और भाव थोड़े ही देखते हैं, हम तो श्रोताओं की रुचि के अनुसार भजनों और गीतों में संगीतकला पर ही ध्यान रखते हैं और हमें भी उसी में आनन्द आता है।"

"तुम्हारी तुम जानो, मुझे तो भजन का भाव और उसका प्रेरणाप्रद सन्देश बहुत ही प्रिय लगा। बात भी सच ही है; क्योंकि भजन का भाव तो श्रेष्ठ था ही, सन्देश भी हृदयग्राही था।

मेरे तो पापा भी प्रतिदिन यह भजन बोला करते थे। जब भी वे बोलते तो सुननेवाले तो गद्‌गद् होते ही, वे स्वयं भी बड़े गम्भीर हो जाते थे। उनकी आंखें आनन्द के आँसुओं से गीली हो जाती थीं। बड़ा आनन्द आता था उन्हें इसमें। जब मैंने तुमसे यह भजन सुना तो मेरी आँखों के आगे तो पापा का वह पूरा दृश्य ही प्रतिबिम्बित हो गया। ऐसा लगा – मानो पापा ही गा रहे हैं। अब तो वे इस दुनियाँ में ही नहीं रहे; पर वे अपनी ऐसी स्मृतियाँ छोड़ गये हैं, जो हम को समय-समय पर सजग करती रहती हैं।"

निजानन्द को खिन्न देख गम्भीर होकर सरला ने कहा –

"निजानन्दजी ! थोड़ा धैर्य धरो ! मम्मी-पापा का चिरवियोग दुःखद तो होता ही है; पर विधि के विधान को कोई मेट भी तो नहीं सकता। संयोग का वियोग अवश्यंभावी होता है, अतः दुखी न होओ ..... !" कहते-कहते भावुक हृदया सरला का कण्ठ भी अवरुद्ध हो गया। वह आगे कुछ नहीं कह पायी।

"सरला ! यद्यपि अब मेरे पापा नहीं हैं; पर उनकी एक-एक बात हृदय पटल पर अंकित है। वे जो अविस्मरणीय बातें बता गये, मेरे लिए सन्मार्ग दर्शन दे गये, वही एकमात्र मेंरी अमूल्य निधि है।

वे कहा करते थे – **'संसार में जो आया है, उसे जाना तो पड़ता ही है; पर जाने के पहले यदि वह कुछ ऐसे काम करले, जिनसे स्व-पर कल्याण हो सके तथा अपने स्वरूप को जान ले, पहचान ले, उसी में जम जाये, रम जाये, समा जाये तो उसका जीवन धन्य हो जाता है, सार्थक हो जाता है, सफल हो जाता है।'**

मेरे पापा उन्हीं महान आत्माओं में एक थे, जिन्होंने स्वयं का जीवन तो सफल किया ही, हम सबको भी सन्मार्ग बता गये। वे साहित्यकार भी थे। उनका लिखा बहुत सारा सत्साहित्य है, जिसे पढ़कर हम अपना जीवन सफल कर सकते हैं।"

"निजानन्दजी, मुझे भी वह सत्साहित्य देना। मैं उसे अवश्य पढूँगी।"

"क्यों नहीं, दूँगा, अवश्य दूँगा। यदि तुम्हारे पापा तुम्हें मेरे घर आने की अनुमति दे दें तो कभी तुम थोड़ा समय निकालकर हमारे घर आओ न ! मेरी माँ तुमसे मिलकर बहुत खुश होगी। उसे तुम जैसी लड़कियाँ बहुत अच्छी लगती हैं।"

"ऐसा मुझ में क्या है ?"

"ये तो मैं नहीं जानता; पर तुम्हारा सरल स्वभाव और सादगीपूर्ण रहन-सहन एवं भारतीय पहनावा उनकी रुचि के

अनुकूल है – उनकी बातचीत से मुझे ऐसा लगता है।"

"ठीक है, कभी मौका मिला तो पापा या भैया के साथ मैं अवश्य आऊँगी।"

"सरला ! इसमें मौका मिलने की क्या बात है ? कभी भी आ जाओ। यदि पापा या भैया को आने का समय एवं सुविधा न हो तो फोन पर मुझे बता देना। मैं स्वयं लेने आ जाऊँगा।"

"आप का कहना सही है, पर मैं पापा या भैया के साथ ही आऊँगी।"

"ठीक है, जैसी तुम्हारी मर्जी। मैं प्रतीक्षा करूँगा।"

इसके पहले भी सरला ने निजानन्द को कॉलेज में आते-जाते अनेक बार देखा था; क्योंकि दोनों एक ही कॉलेज में पढ़ते थे, पर दोनों के विभाग जुदे-जुदे थे, इसकारण विद्यालय के वार्षिकोत्सव के समय सांस्कृतिक मञ्च पर ही यदा-कदा मिलना होता था। पर सरला निजानन्द से एक-दो बार मिलने पर ही उसके गम्भीर व्यक्तित्व से मन ही मन प्रभावित हो गई थी। इस कारण अब वह उससे किसी न किसी बहाने बार-बार मिलने और कुछ न कुछ बोलने या बातें करने के अवसर की तलाश में भी रहने लगी थी; परन्तु निजानन्द लड़कियों से प्रायः दूर ही रहता; क्योंकि, उसने अपने पापा के मुख से एकबार सुना था –

'काजल की कोठरी में कैसो ही सयानो जाय।
एक दाग काजल का लागे पर लागे ही।।'

तथा –'अंगार सदृशी नारी, नवनीत समाः नराः।
तत्तत्सान्निध्य मात्रेण, द्रवेत्पुन्सा हि मानसम्।।
नारी और नर की प्रकृति आग और नवनीत की तरह होती है, अतः इन्हें सदैव दूर-दूर ही रहना चाहिए।'

निजानन्द के पापा ने एक बार कॉलेज में सहशिक्षा पर

बोलते हुये यह भी कहा था – 'सहशिक्षा के पक्ष-विपक्ष में बहुत बातें होती हैं। दोनों पक्षों द्वारा इसकी अच्छाई-बुराई और लाभ-हानि के नाना तर्क दिए जाते हैं; परन्तु जब कलयुगी छात्र-छात्राओं की कामुक-कमजोरियाँ देखते हैं तो पक्ष के सभी तर्क निरर्थक साबित होते दिखते हैं। सम्भ्रांत कुल के माता-पिता (पालक) भी अपने बालक-बालिकाओं की इस कमजोरी से घबराते हैं।

यह वह सतयुग तो है नहीं, जब 'राम' जैसे महामानव तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे ही, रावण जैसे राक्षसवंशी भी मानवीय मान-मर्यादा में रहते थे। रावण ने भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया था, अन्यथा छह माह तक–एकान्त अशोक वाटिका में रावण के पास रहकर सीता का शील सुरक्षित नहीं रह सकता था।

आज राम जैसों के दर्शन तो दुर्लभ हैं ही, रावण जैसे भी कहाँ हैं ? आज बताये तो कोई ऐसा रावण, जिसे छह माह छोड़ छह दिन को भी किसी महिला का एकान्तवास मिल जाय और वह माँ-बहिन सुरक्षित रह जाय ! मैं उस कलयुगी रावण के दर्शन करना चाहता हूँ।

हम सब जरा अपने-अपने गिरेवान में झांककर देखें तो सही, हृदय पर हाथ रखकर सोचें तो सही एवं थोड़ा आत्मावलोकन तो करें कि हम वस्तुतः कितने पानी में हैं ? भले ही शासन और समाज के भय से हमारा पाप प्रदर्शित न हो पाये; क्योंकि काया के पाप पर शासन का और वाणी के पाप पर समाज का नियन्त्रण जो होता है; पर हम मन से कितने पापी हैं, जरा इसका भी तो अन्दाजा लगायें ? जब अनुकूल प्रसंग पाकर ये मन की दुष्प्रवृत्तियाँ बे-काबू होकर वाणी और काया की कुचेष्टा के रूप में फूट पड़ती हैं, उस समय उसकी एवं उसके परिजनों की जो दयनीय दशा होती है, वह देखते नहीं बनती।

अतः मेरी तो सबसे यही पुरजोर प्रार्थना है कि प्रत्येक नर-नारी को एक-दूसरे से दूर ही रहना चाहिए।

कोई कितना भी चिर-परिचित क्यों न हो ? नजदीकी रिश्तेदार भी क्यों न हो और अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति ही क्यों न हो, फिर भी इस विषय में विश्वास करना खतरे से खाली नहीं है। अतः मेरा तो दृढ़ निश्चय है कि किसी भी नर और नारी को एक साथ एकान्त में अधिक समय तक नहीं रहना चाहिए।'

पिताजी के इस ओजस्वी और सटीक भाषण को सुनकर तो निजानन्द का संकल्प और भी अधिक दृढ़ हो गया था।

बस, तभी से वह कॉलेज में भी लड़कियों से दूर-दूर रहने लगा था। फिर भी न जाने क्यों ? उसका हृदय भी सरला की ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहा। अब वह तन से दूर रहकर भी मन से उसके पास होता चला गया।

जिनकी जैसी होनहार होती है, जिसके जिनके साथ जैसे संस्कार होते हैं; उसका उनके साथ सहज ही वैसा बनाव बन जाता है।

* * *

निजानन्द के जन्म-दिन पर बधाई देने के बहाने अपने वायदे के अनुसार सरला पिता के साथ उसके घर पहुँच ही गई।

इस प्रसंग पर उसकी माँ का भी सरला एवं उसके पिताजी से सहज मिलना हो गया था। तब से निजानन्द की माँ का भी सरला की ओर आकर्षण हो गया था। वह भी बहू की तलाश में तो थी ही; क्योंकि निजानन्द अब विवाह के योग्य हो गया था। स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण कर उसने अपने स्वर्गीय पिता का ही व्यवसाय भी संभाल लिया था। अतः अब वह अपने बेटे को आखिर कब तक कुंवारा रखती ?

अपने माता-पिता के परामर्श और उनकी भावनाओं का

आदर करते हुए इधर सरला ने भी स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर कॉलेज की पढ़ाई छोड़ दी थी। अतः सरला के माता-पिता को भी योग्य वर की तलाश तो थी ही।

जब भी निजानन्द के सामने शादी का प्रस्ताव आता तो उसके सामने सरला ही खड़ी प्रतीत होती। यही स्थिति सरला की हो गई थी। सरला का सरल स्वभाव और उसकी सुन्दरता देखकर निजानन्द की माँ के चित्त में भी सरला ही चढ़ गई थी।

निजानन्द तो सर्वगुण सम्पन्न था ही। संयोग से दोनों पक्षों की अनुमति से वे दोनों शादी के बन्धन में बँध गये।

अनुराग का अन्तिम फल बन्धन ही तो होता है, सो हो गया।

●

दो

जिसका जिसमें अपनत्व हो जाता है, जो जिसे हृदय से चाहने लगता है; वह उसके लिए सर्वस्व समर्पण कर देता है। फिर दोनों का सुख-दुःख, उन्नति-अवनति एक हो जाती है। यदि किसी में भी कोई योग्यता की कमी दृष्टिगोचर हुई भी तो उसे दूर करने में दोनों के सम्मलित प्रयास प्रारम्भ हो जाते हैं।

सरला ने तो निजानन्द के लिए सर्वस्व समर्पण कर ही दिया था, निजानन्द ने भी सरला को अपने समान ही धर्मात्मा बनाने का संकल्प कर लिया था।

शादी होते ही निजानन्द के मन में सरला को वे सब धार्मिक सिद्धान्त सिखाने की भावना बलवती हो गई, जो उसे अपने पिता से विरासत में मिले थे। परन्तु सरला अभीतक लौकिक कलाओं के राग-रंग में कुछ अधिक ही रंगी हुई थी और निज आत्मा का सामान्य परिचय भी नहीं था। अतः निजानन्द ने सोचा कि – 'पहले इसकी इन कलाओं की आलोचना करने के बजाय, उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति में अनुपयोगी बताने के बजाय अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में **आत्मिक आनन्द की कला** से परिचित कराना श्रेयस्कर रहेगा।' अतः उसने लौकिक कलाओं के विषय में कुछ न कहकर सदैव सम्यग्ज्ञान कला के सुखद पक्ष का ही सकारात्मक वातावरण बनाने का प्रयास किया।

एतदर्थ निजानन्द प्रतिदिन प्रातः सूर्योदय के पूर्व शैया से

उठकर हाथ-पैर धोकर निम्नांकित पंक्तियाँ गुन-गुनाता –

ज्ञानकला जिनके घट जागी, वे जग मांहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषय-सुख माहीं, यह विपरीत संभवै नाहीं।।

तथा – परद्रव्यन ते भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूप को जान पनो सो, सम्यग्ज्ञान कला है।।

प्रतिदिन सुनते-सुनते जिज्ञासा भाव जगने पर एक दिन सरला ने निजानन्द से पूछ ही लिया – "अजी, आप यह रोज-रोज किन कलाओं के गीत गाते रहते हो ? किन कलाओं को याद करते रहते हो। आप को तो कलाओं में रुचि ही नहीं है। यह ज्ञान कला और सम्यग्ज्ञान कला कौनसी कलाएँ हैं ? और ये जीविका एवं जीवोद्धार कलायें भी क्या बलायें हैं ? इनकी भी तो लोग काफी चर्चा करते हैं।

इन्हें जरा स्पष्ट करके समझाइये न ! मैने तो अभी तक अपने जीवन में जितनी भी अर्वाचीन और प्राचीन कलाओं को देखा है, सुना है, सीखा है; प्रायः वे सभी कलाएँ मनोरंजन की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण मानी जातीं हैं।"

"हाँ, हाँ; सरला ! जिन्हें देखकर-सुनकर हमारा मन मुदित होता है, चित्त चमत्कृत हो जाता है, हृदय में आनन्द की उर्मियाँ हिलोरे लेने लगतीं हैं, वाणी से वाह ! वाह ! के स्वर फूट पड़ते हैं; उन आनन्ददायक मानवीय मानसिक-वाचिक एवं कायिक अभिव्यक्तियों को ही तो लोकभाषा में कला कहा जाता है।

जैसे कि – नाट्यकला, नृत्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि दृश्य कलाएँ तथा वाद्यकला, गीत-संगीतकला, काव्यकला, वक्तृत्वकला आदि श्रव्य कलाएँ। ये सभी दृश्य एवं श्रव्य कलाएँ तो कला के सीमाक्षेत्र में आतीं ही हैं; परन्तु यदि शैक्षणिक दृष्टि से 'कला' शब्द का आकलन करें तब तो–अर्थशास्त्र

के अनुसार शुद्ध अर्थ सञ्चय की कला, समाजशास्त्र के अनुसार यशस्वी सामाजिक जीवन जीने की कला, राजनीतिशास्त्र के अनुसार विशुद्ध राजनीति में निपुणता प्राप्त करने की कला, नागरिकशास्त्र के अनुसार योग्य नागरिकता में कुशलता प्राप्त करने की कला एवं भाषाविज्ञान के अनुसार सभ्य-सु-संस्कृत भाषाओं के प्रयोग की कला आदि कलाएँ भी शैक्षणिक कला संकाय में सम्मिलित हैं। लौकिकदृष्टि से ये कलाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि लौकिक सुख-समृद्धि एवं यश तो इन्हीं के ज्ञान विशेष से प्राप्त होता है; परन्तु यह लौकिक सुख-समृद्धि और यश क्षणिक एवं भाग्याधीन होने से आकुलता के ही जनक हैं।"

"हाँ, आपकी यह जानकरी सही है। मैंने भी इन को पढ़ते समय यही सब पढ़ा था; किन्तु तब तो इन विषयों की केवल उपयोगिता ही बतायी गई थी; पर आपने तो तज्जन्य सुख की क्षणभंगुरता का ज्ञान भी करा दिया।"

"हाँ, जब तुमने कला संकाय से ही स्नातक तक पढ़ाई की है तो वहाँ तो ये सब विषय बहुत विस्तार से पढ़ने में आये ही होंगे। साथ ही गीत-संगीत और नाटक-नृत्य आदि भी तो तुम्हारी रुचि के विषय हैं। चित्रकला में भी तो तुम किसी से कम नहीं हो। कैसे-कैसे आकर्षक चित्र बनाये हैं तुमने! महाविद्यालय के मञ्च से तुमने इन कलाओं का प्रदर्शन भी तो खूब किया है। उस समय तो खूब आनन्द आता होगा इनके प्रदर्शन में तुमको ?"

"अजी! क्या बताऊँ ? दूर से ही ढोलों की ध्वनियाँ सुहावनी लगतीं हैं अथवा यों कहें कि – दूर से ही पहाड़ियाँ भी हरी-भरी दिखतीं हैं। कलाओं के विषय में भी ये दोनों कहावतें बिल्कुल सटीक हैं, सही हैं। जिसतरह पहाड़ों के पास जाकर देखें तो कंकड़ और काँटें ही नजर आते हैं। ढोलों की ध्वनियाँ भी पास से

सुने तो कान फोड़ू ही होतीं हैं। ठीक इसीतरह इन कलाओं के दर्शन-प्रदर्शन के आनन्द में भी टेंशन और दुःख-दर्द ही अधिक होता है, जिसे भुक्तभोगी ही भली-भांति जानते हैं। कोई भी/कभी भी/किसी भी कला के दर्शन और प्रदर्शन से पूरी तरह सन्तुष्ट नजर नहीं आता। एक तो इनके प्रदर्शन की व्यवस्था में सामग्री एवं कलाकारों को जुटाना ही मेंढकों को तराजू पर तौलने जैसा कठिन होता है। तराजू के पलड़े पर एक मेंढक को बिठाओ तो दो नीचे उछल जाते हैं।

एक कलाकार आता है तो दो खिसक जाते हैं। इसतरह कोई व्यवस्था ही नहीं बन पाती। दूसरे, सब को उनके मन का समय व सम्मान नहीं मिल पाता, जो असन्तोष का कारण बन जाता है। ऐसी-ऐसी न जाने कितनी समस्याओं का सामना करना पड़ता है इन कलाकारों को और दर्शकों को भी। इसतरह इन कलाओं में अन्ततः आनन्द के स्थान पर असन्तोष ही हाथ लगता है। जीविका की कला यानि अर्थोपार्जन की कला और अर्थ की महिमा तो सबने बताई, पर अर्थ एवं यश की क्षण भंगुरता की बात क़ेवल आपने ही कही है। सचमुच ये बिना सोचे-विचारे ही अच्छे लगते हैं। विचार करने पर सब निःसार ही नजर आते हैं।"

"सरला ! तुमने तो बहुत ही सटीक और सरल हृदय से अन्दर की बात बता दी है। यद्यपि मैं विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ; फिर भी सांस्कृतिक कार्यक्रमों में मैंने भी इनमें काफी आनन्द खोजने की कोशिश की; पर कुछ भी हासिल नहीं हुआ। पर, मैं किसी से यह बात कह नहीं सकता था; क्योंकि असन्तोष प्रगट करते ही यह सुनने को मिलता कि – 'क्या जाने बन्दर अदरक का स्वाद' तथा 'भैंस के आगे बीन बजाने से क्या लाभ ?' मुझे भैंस और बन्दर की उपमाओं से अलंकृत होने में कोई रस नहीं

था, रुचि नहीं थी। अतः मैंने चुप रहने में ही सार समझा। आज जब तुमने ही इनके आनन्द की असलियत का राज खोल दिया तो मेरा भी इतना कहने को दिल खुल गया; अन्यथा अपने राम तो अबतक लोगों की हाँ में हाँ ही मिलाते रहे। सही बात कहकर सोलह मुक्की न्याय के चक्कर में कौन पड़ता ?"

"अजी, 'यह सोलह मुक्की न्याय' क्या है ? जिसके चक्कर से आप इतने डरते हैं ?"

"अरे, सरला ! तुम सोच भी नहीं सकतीं कि दुनियाँ में ऐसा भी कोई न्याय होता है। सुनो ! एक व्यक्ति ऐसे प्रदेश का वासी था, जहाँ गेहूँ की पैदावार बहुत अधिक होती और मिर्चें बिल्कुल नहीं होतीं थीं। और वह जहाँ दूर देश गया था, वहाँ मिर्चों की पैदावार सर्वाधिक होती और गेहूँ बिल्कुल नहीं होता था। उसने उस दूर देश में मिर्चों के बड़े-बड़े ढेर देख कर कहा – भाई! जैसे यहाँ मिर्च के ढेर लगे हैं, ऐसे ही हमारे यहाँ गेहूँ के ढेर लगे रहते हैं। वहाँ के लोगों ने उस की उस बात पर विश्वास ही नहीं किया। वे कहने लगे – ऐसा हो ही नहीं सकता। यह झूठ बोलता है, अतः इसको झूठ बोलने के अपराध में आठ मुक्के लगाये जाँय।

आठ मुक्के खाकर जब वह वापिस अपने देश लौटा तो वह वहाँ बोला – जैसे यहाँ गेहूँ के ढेर लगे हैं, मैंने ऐसे ही ढेर परदेश में मिर्चों के लगे देखे। उसकी इस बात पर वहाँ के लोगों ने भी विश्वास नहीं किया – और उसे अपने ही देश में झूठा ठहराकर झूठ बोलने के अपराध में पुनः आठ मुक्कों का दण्ड दिया गया।

इसप्रकार सच बोलने पर भी जैसे उसे सोलह मुक्के खाने पड़े; इसीतरह मेरे द्वारा इन लौकिक कलाओं की सही समीक्षा करने पर भी मेरे साथ भी कहीं वैसा ही 'सोलह मुक्की न्याय' न

हो जाय। इस भय से इस विषय में मैं चुप ही रहता हूँ। अच्छा रहा कि तुम जैसे कलाप्रेमियों एवं स्वयं कलाकारों ने ही सही बात कह दी, अपने दिल का दर्द बता कर मेरा काम हल्का कर दिया। अन्यथा मेरी तो हिम्मत ही नहीं हो रही थी। मैं तो यह सोच रहा था – कैसे कहूँ कि – सारा जगत इन मनोरञ्जक कलाओं के चक्कर में अपना कीमती वक्त बर्बाद कर रहा है। क्षणिक पड़ाव पर विश्राम करने की भाँति जी हल्का करने के लिए, थकान मिटाने के लिए कभी-कभार घण्टे-आध घण्टे स्वस्थ मनोरञ्जन कर लेना अलग बात है। अतः आटे में नमक की भाँति शुद्ध-सात्विक लौकिक कलाओं के द्वारा उपयोग पलट कर पुनः अपने प्रयोजनभूत काम को कर लेने में ही हमारी भलाई है।

ऐसी-वैसी कलाओं की तो बात ही दूर, जिस क्रीड़ा कला को देखने के पीछे सारा विश्व पागल हो रहा है, पता नहीं क्यों ? उसमें भी मेरा मन एक क्षण को भी नहीं रमता। मुझे यह देखकर हैरानी होती है कि – क्या हो गया है इन पढ़े-लिखे लोगों को ? जब खेल प्रारम्भ होता है तो सारा विश्व खेल समाप्ति तक थम सा जाता है। सरकारी, गैर सरकारी-सारे कामकाज ठप्प हो जाते हैं। चाहे वे आपतकालीन अनिवार्य सेवायें ही क्यों न हों ?

सरला ! खेल तो खेलने की क्रिया है न ? खेलने से स्वास्थ्य लाभ होता है, अतः खेलने का औचित्य तो समझ में आता है; पर खेलों को देखने और उनकी कमेन्ट्री सुनने से क्या लाभ होता है? इसमें तो हानि ही हानि है; क्योंकि इसमें राग-द्वेष ही पनपता है। कभी- कभी तो यह राग-द्वेष पागलपन की हद तक पहुँच जाता है और लोग घरों से, कार्यालयों से सड़कों पर आ जाते हैं। कहीं नाच-गान, मिठाइयों का वितरण और आतिशबाजी का दौर चलता है तो कहीं चाकू-छुरे चलने लगते हैं। कारोबार रुकने से देश को

जो आर्थिक हानि होती है सो अलग।

मेरी दृष्टि में मुझे तो ये सब उन्माद से लगते हैं। यदि कलाकार बनने और कलाओं का दर्शन-प्रदर्शन करने का इतना ही शौक है तो हम अध्यात्म के आलोक में, जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में **'सच्चासुख प्राप्त करने की कला'** ही क्यों न सीखें ? पर मैं देखता यह हूँ कि अभी तो इस विषय में **दिया तले ही अंधेरा** है। अतः **चेरिटी बिगेन्स एट होम'** की नीति के अनुसार **प्रत्येक भला काम सबसे पहले हमें अपने घर से ही प्रारम्भ करना चाहिए।** पहले पत्नी, पुत्र-पुत्रियाँ आदि परिजन, फिर अड़ौसी-पड़ौसी और पुरजन, उसके बाद शक्ति अनुसार जितना भी सम्भव हो सके – देश-देशान्तरों में भी इसी का प्रचार-प्रसार करना चाहिए।"

"अजी, वस्तुतः आपका सोचना ही सही है, परन्तु यह **अतीन्द्रिय आनन्द की कला** की बात मुझे आपसे पहलीबार ही सुनने में आ रही है। धर्म के मञ्चों से व्याख्यान तो मैंने बहुत सुने, परन्तु वहाँ ऐसी अध्यात्म की बातें कभी सुनने में नहीं आईं।"

"देखो सरला ! अभीतक तुमने लौकिक शिक्षण में कला संकाय के विषयों का ही अध्ययन किया है। विज्ञान के नाम पर भी केवल गृहविज्ञान ही पढ़ा है। तथा मनोरञ्जन के लिये भी लौकिक दृश्य-श्रव्य कलाओं का ही दर्शन-प्रदर्शन किया है। धर्म में भी जो थोड़ा-बहुत पढ़ा-सुना है, वह भी कुल की परम्परानुसार धर्म के नाम पर दैनिक पूजा-पाठ तक ही सीमित रहा।

क्यों सरला ! मुझे तुम्हारे लौकिक और धार्मिक ज्ञान के बारे में जो कुछ जानकारी है, उसमें कुछ गलत तो नहीं है ?"

"नही, कुछ भी गलत नहीं है। आपका सोचना बिल्कुल सही है; परन्तु सु-संस्कृत वातावरण में पली-पुसी एक साधारण परिवार की लड़की इससे अधिक और कर भी क्या सकती थी ?

घर की सीमित मान-मर्यादाओं में सिमटकर रहते हुये अपने आत्मविश्वास के बल पर घर की चहारदीवारी से निकलकर कॉलेज तक पहुँच गई, यह भी क्या कम है ? मेरे मम्मी-पापा का भी यही कहना था – 'सहशिक्षा काँटों पर चलने जैसा कठिन काम है।' उनका कहना गलत भी नहीं था, मैने कॉलेज में पढ़ते समय स्वयं भी ऐसा ही अनुभव किया है।"

"सरला ! तुमने जो कुछ किया, वही ठीक है। घर-परिवार की मान-मर्यादायें तोड़ना और स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है। क्या निहाल करतीं हैं वे लड़कियाँ, जो अधिक आधुनिक बनकर स्वच्छन्द हो जातीं हैं ? अधिकांश तो अपने माता-पिता और समाज के लिये सरदर्द ही बनतीं हैं। भले और बड़े काम तो मान-मर्यादा में रहकर ही हो सकते हैं। बढ़प्पन और शालीनता भी इसी में है। जितने भी महापुरुष हुये हैं, महान नारियाँ हुईं हैं; सभी एकदम साधारण भारतीय वेश-भूषा में ही रहते थे। **सादा जीवन उच्च विचार मय जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है।** आज की सिनेमा संस्कृति से प्रभावित होनेवाली लड़कियाँ कल्पना लोक में ही विचरतीं रहतीं हैं। जीवन के ठोस धरातल पर उनसे कुछ नहीं हो पाता। अतः वह हीन भावना तुम अपने मन से निकाल दो। मुझे भी तुम्हारा यही रूप पसन्द है।"

"हाँ, ठीक है। मेरा भी यही सोचना रहा है; परन्तु कभी-कभी यह विचार अवश्य आता रहा कि – पता नहीं, जीवनसाथी कैसा मिलेगा, किस रुचि का मिलेगा ? मेरा यह सादा रहन-सहन उसे पसन्द आयेगा या नहीं। पर सौभाग्य से आपकी और मेरी पसन्द एक जैसी मिल गई। हम दोनों के सोचने का तरीका लगभग एक जैसा है। यह मेरे महान पुण्य का उदय है – ऐसा मैं मानती हूँ।"

"सरला ! यद्यपि मैं विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ। मैंने

भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान, गणित आदि सभी विषय पढ़े हैं, साथ ही शिक्षण-प्रशिक्षण में शिक्षामनोविज्ञान, नारीमनोविज्ञान एवं बालमनोविज्ञान आदि भी पढ़ा तथा वैज्ञानिकों के जीवन दर्शन को भी निकट से देखा-परखा; तथापि जो बात **वीतरागविज्ञान** में है, वह कहीं नहीं है।

देखो, आज मात्र इन्हीं भौतिक विषयों के शोध-खोज और प्रयोगों के साथ किए गये अध्ययन विशेष को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है, जब कि आत्मिक आनन्द की दृष्टि से एक वीतराग-विज्ञान ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः यदि इसी व्यापक सन्दर्भ में कला की भी व्याख्या की जाय तो इन्हीं सब में निपुणता प्राप्तकर इनके माध्यम से मनोरञ्जन करना और आत्मिक आनन्द लेना कला है। मानव में इन कलाओं के बीज तो जन्मजात प्रतिभा के रूप में ही होते हैं, जो बाद में समय एवं वातावरण पाकर पनप जाते हैं, विकसित हो जाते हैं।

इस वैज्ञानिक शोध सामग्री का भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए उपयोग करना, इन्हीं विषयों में निपुणता प्राप्तकर इनके माध्यम से आनन्द लेना, मनोरञ्जन करना भी लौकिक वैज्ञानिक कला है। जैसे नई-नई तकनीक से वाद्ययन्त्र बनाना विज्ञान है और उन्हें बजाने में निपुण होना कला है।

ये कलाकार और वैज्ञानिक आदि – सभी अपनी- अपनी रुचि की कलाओं और ज्ञान-विज्ञान के शोध-खोज के प्रति इतने लगनशील व समर्पित होते हैं कि इनकी साधना में ये दिन-रात एक कर देते हैं। सुख-सुविधा एवं सर्दी-गर्मी की परवाह तो करते ही नहीं, भोजन तक भूल जाते हैं।

परन्तु एक दुःखद बात तो यह है कि ये लोग जितना श्रम, शक्ति एवं समय इन लौकिक कलाओं और धनार्जन में लगाते हैं,

उस अनुपात में इन्हें न तो सन्तुष्टि ही होती है और न यश ही मिलता है; क्योंकि एक तो इनका सही मूल्यांकन करनेवाले कला रसिक विरले ही होते हैं; जो इन्हें दाद दें, इनकी प्रशन्सा करें, प्रभूत धनराशि भी इन पर न्योछावर करें।

दूसरे, इन कलाकारों की अपेक्षायें भी इतनी अधिक होतीं हैं, जिनकी पूर्ति सामान्यजनों के द्वारा सम्भव ही नहीं होती।

इनकी तीसरी दुःखद स्थिति यह होती है कि इन कलाओं की अभिव्यक्ति तो शरीराश्रित और इन्द्रियों के आश्रित होती ही है, इनको देखना/सुनना एवं दाद देना भी जनाश्रित होता है, जो सदैव इनका साथ नहीं दे सकते। इस कारण अन्ततोगत्वा इन्हें निराशा ही हाथ लगती है।

इसप्रकार भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धियों की अपेक्षा एवं क्षणिक मनोरञ्जन की दृष्टि से विज्ञान और कलाएँ महत्त्वपूर्ण हो सकतीं हैं; परन्तु ये स्थाई आनन्द और निराकुल सुख-शान्ति देने में समर्थ नहीं हैं।

फिर भी इनके रसिक इनके द्वारा प्राप्त क्षणिक रसानुभूति में ही अटके रहकर अपनी सारी शक्ति, अपना सारा जीवन एक-एक कला की साधना और धनोपार्जन में समर्पित करते देखे जाते हैं। काश! ये इनकी निरर्थकता के पक्ष का भी अवलोकन एवं अनुभव कर पाते और सच्चा **'सुखी जीवन'** जीना सीख लेते तो निःसंदेह इनका जीवन सफल हो जाता।

परन्तु अपनी-अपनी धुन में मस्त जगत के कलाकारों को समझाने की बात तो बहुत दूर, अभी तो **'दिया तले ही अंधेरा है'**। अतः सर्वप्रथम तो अपने घर-परिवार की ओर ही ध्यान देने की आवश्यकता है।" ●

तीन

दुःख की घड़ियाँ काटे नहीं कटतीं और सुख में समय जाते देर नहीं लगती। सुखद वातावरण में बरसों का बीता समय परसों जैसा लगता है।

शादी के बाद ससुराल में आकर सरला निजानन्द के साथ सुखद वातावरण में रहते हुए अपनी सासू माँ की सेवा एवं घर-गृहस्थी के सँभालने में ऐसी व्यस्त हो गई कि उसे यह पता ही नहीं चला कि उसकी शादी हुए दो दशक कब/कैसे गुजर गये। वह निजानन्द जैसे भद्र परिणामी पति को पाकर और मातृवत सासू माँ का स्नेह पाकर बचपन का मातृ-स्नेह तो भूल ही गई; कालेज में साथ-साथ पढ़ने वालीं सखीं-सहेलियों के साथ बीती सुखद क्षणों की स्मृतियाँ भी विसर गई।

यद्यपि सरला शिक्षित महिला है। उसने स्नातक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। शिक्षण के साथ-साथ वह कालेज की पाठ्येतर गतिविधियों में भी सदैव अग्रगण्य रही; फिर भी उसके व्यवहार, बातचीत और रहन-सहन के तौर-तरीकों में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। वही आञ्चलिक बोली और वही मधुर व्यवहार।

उसकी दूसरी खास विशेषता यह है कि वह अपने पारिवारिक जीवन में वयोवृद्ध और घरेलू महिलाओं के साथ एकदम दूध-पानी की तरह घुलमिल कर रहती, उनसे उन्हीं की टोन में विनय पूर्वक बातचीत करती, उनकी मान-मर्यादा रखती और उन्हें

यथायोग्य सन्मान देती। इन सब कारणों से वह जल्दी ही सबकी स्नेह पात्र बन जाती। इनके अलावा सरला में तीसरी सर्वश्रेष्ठ बात यह है कि वह राग-द्वेष की उत्पादक बीती बातों की सुखद-दुःखद अनुभूतियों को कभी याद नहीं करती, बल्कि भूलने का ही प्रयास करती है। इसकारण वह भूतकाल की स्मृतियों के कारण कभी दुःखी नहीं होती।

* * *

बात बीस-बाईस वर्ष पहले की है। जब निजानन्द के पापा अचानक दिवंगत हो गये और उनके अभाव में उनका कारोबार भी गड़बड़ा गया तो सरला के पिता कुछ समय तो किंकर्त्तव्य विमूढ़ से रहे, क्योंकि उन्होंने धनसम्पन्न निजानन्द के साथ सरला की शादी का स्वप्न जो सँजो रखा था। निजानन्द का कारोबार गड़बड़ होने से उनका तो वह स्वप्नों का महल ही ढ़ह गया। बाद में उन्होंने स्वयं को सँभालकर एवं काफी सोच-विचार कर निजानन्द की ओर से मुँह मोड़ लिया। वहाँ से चित्त हटाकर बेटी के रिश्ते के लिए अपनी निगाहें अन्यत्र – इधर-उधर दौड़ाने लगे।

जिनके घर में बेटी होती है, भले ही वह फिलहाल छोटी ही क्यों न हो ? फिर भी जहाँ भी/जो भी उन्हें योग्य सम्बन्ध समझ में आता है, अच्छा लड़का दिखाई देता है, उसके गुण-दोष अपनी बेटी के वर के हिसाब से देखने-परखने लगते हैं। सरला के पापा की वही सब प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो गई, उसी नजर से उनकी निगाहें इधर-उधर घूमने लगीं।

पहले जब सरला के मम्मी-पापा ने पहली बार निजानन्द को देखा था, तभी से उनके मन में सहज ही यह विचार तरंगित होने लगा था कि – 'सरला के योग्य तो एक मात्र यह निजानन्द ही है। उसे तो ऐसा ही श्रेष्ठ वर मिलना चाहिए। एक बार तो

उन्होंने निजानन्द की प्रशंसा करते हुए भावुकतावश अपनी यह हार्दिक भावना प्रगट भी कर दी थी। पर, तब तो वे दोनों ही नाबालिग थे। दोनों पढ़ भी रहे थे। अतः उस समय तो शादी-विवाह का बात आई-गई होनी ही थी, सो हो गई। पर सरला अपने पापा का यह अभिप्राय जानकर मन ही मन फूली नहीं समाई; क्योंकि वह कालेज में निजानन्द के गम्भीर व्यक्तित्व से प्रभावित हो चुकी थी और मन ही मन उसे चाहने भी लगी थी। परन्तु जब सरला के पापा ने निजानन्द की पारिवारिक और आर्थिक परिस्थितियाँ गड़बड़ा जाने के कारण सरला की शादी उसके साथ करने का विचार बदला तो सरला को मन ही मन भारी दुःख हुआ। वह हृदय से निजानन्द के प्रति समर्पित जो हो चुकी थी। अब उसे निजानन्द का आर्थिक उतार-चढ़ाव कोई अर्थ नहीं रखता था। पर वह अपने पापा से यह बात कहे तो कहे कैसे ? वह अन्य आधुनिक लड़कियों की भाँति मुँहफट नहीं थी। अतः वह बहुत समय तक असमञ्जस की ज्वाला में जलती रही थी।

सरला का सौभाग्य यह रहा कि उसके माता-पिता ऐसे हठग्राही भी नहीं थे, जो अपनी बेटी की भावनाओं की परवाह किए बिना अपनी ही मनमानी करें। वे समय व परिस्थितियों की नब्ज को अच्छी तरह पहचानते थे; उन्हें ज्यों ही सरला की उदासी का पता चला, त्यों ही उन्होंने अपना विचार पुनः बदल लिया। वे दोनों के हृदयों में पनपते प्रेमान्कुर को मरोड़ना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने निजानन्द की माँ के शादी के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर उन्हें सदैव के लिए स्नेह के एक सूत्र में बाँधा था।

इस घटना को बीते बीस-बाईस बरस हो गये थे। अब तो सरला कुशल गृहणी के साथ-साथ स्वानुभव एवं स्वानुभूति की माँ भी बन गई है। पर उसने अपने पापा द्वारा उत्पन्न की गई उस

विकट विषम स्थिति को कभी याद नहीं किया।

'छोटा परिवार सुखी परिवार' की नीति के अनुसार यद्यपि सरला अब दो से अधिक सन्तानों की माँ बनने के बोझ से मुक्त हो गई थी; फिर भी दोनों सन्तानों के समुचित व्यक्तित्व के विकास के प्रति पूर्ण जागरूक होने से उनके अनुकूल व्यवस्थाओं का भार तो उसके माथे पर था ही।

इस समय बेटा स्वानुभव दस वर्ष का एवं बेटी स्वानुभूति छह वर्ष की है। माँ सन्तान की प्रथम पाठशाला होती है; क्योंकि सबसे पहले वही उन्हें नैतिकता का पाठ पढ़ाती है। 'जीवन सुखी कैसे बने' यह बात यदि कोई सिखा सकता है तो वह सन्तान की शुभचिन्तक माँ ही सिखा सकती है। एतदर्थ माँ का शिक्षित होना अत्यावश्यक है। सौभाग्य से सरला शिक्षित भी थी।

सन्तान के प्रति अपने कर्तव्य बोध से सुपरिचित सरला ने दोनों – बेटे-बेटी को नैतिकता से भरपूर शिक्षा एवं सदाचारी संस्कार देना प्रारम्भ कर दिया।

सरला ने प्रथम दिन के पाठ में ही पाँच पापों के त्याग की भावनाओं को उनके हृदय पटल पर अन्कित करते हुए सिखाया – देखो बेटा! जैसा मैं बोलती हूँ, तुम भी वैसे ही बोलो –

जीवों की हम करुणा पालें, झूठ वचन नहीं कहें कदा।
परधन कबहुँ न हरहूँ स्वामी, ब्रह्मचर्य व्रत रखें सदा॥
तृष्णा लोभ बढ़े न हमारा, तोषसुधा नित पिया करें।
श्री जिनधर्म हमारा प्यारा, तिसकी सेवा किया करें॥
सुख-दुःख में हम समता धारें, रहे अटल जिमि सदा अचल।
न्याय मार्ग को लेश न त्यागें, वृद्धि करें निज आतम बल॥

इस तरह वह अपने बेटे-बेटी को नियमित रूप से प्रतिदिन नया-नया सबक सिखाती, सदाचार का एक पाठ रोज पढ़ाती।

बीच-बीच में निजानन्द ने भी सरला को अपने व्यस्ततम

जीवन में से सुविधानुसार थोड़ा समय निकालकर तत्त्वज्ञान से परिचित कराने की कोशिश की; परन्तु पारिवारिक एवं घरेलू कामों में अति व्यस्तता के कारण अबतक सरला विशेष कुछ सीख नहीं सकी। इसकारण अब निजानन्द की तत्त्वगोष्ठी में आने वाली साधर्मी बहिनें और सरला की सखी-सहेलियाँ भी उस पर तरस खाने लगीं थीं, कटाक्ष भी करने लगीं थीं। पर वह बेचारी तत्त्वाभ्यास करती भी तो करती कैसे ?

इस मँहगाई के जमाने में जहाँ पति की सीमित आय से घर-गृहस्थी के दैनिक और आकस्मिक खर्चे ही मुश्किल से पूरे पड़ते हों, वहाँ नौकर-चाकर रखने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, फिर सरला का आधे से अधिक समय तो सासू माँ की सेवा में ही चला जाता। दो-दो बच्चों को समय पर स्कूल भेजना एवं पति की समय पर आफिस जाने के लिए तैयारी करना।

एक जिम्मेदार महिला के लिए ये ही अपने आप में बहुत बड़े काम हैं, इस कारण वह चाहते हुए भी निजानन्द और सखी-सहेलियों की भावना के अनुरूप तत्त्वज्ञान सीखने को समय नहीं निकाल सकी। कभी-कभार समय निकाल कर निजानन्द की तत्त्व गोष्ठी में सम्मिलित होती भी तो थकी-माँदी होने से जिनवाणी माँ की मीठी-मीठी लोरियाँ सुनते ही उसे नींद आने लगती।

यद्यपि सरला की सहेलियाँ सरला को बहुत आदर की दृष्टि से देखतीं; क्योंकि प्रथम तो सरला स्वयं ही अत्यन्त सरल स्वभावी और प्रतिभासम्पन्न कुशल गृहणी है, दूसरे वह उनके गुरुतुल्य निजानन्द की धर्मपत्नी है; परन्तु उसे गोष्ठी में ऊँघता और सोता देख उन्हें दुःख भी होता और हँसी भी आती।

एक बार की बात है, जब सरला की सहेलियाँ परस्पर बातचीत कर रहीं थीं, उसी समय सरला को दूर से आता देख

एक सहेली के मुँह से यह निकल गया कि – देखो तो ! **'यह दिया तले अन्धेरा कैसा ?'**

यद्यपि उसने निजानन्द की नाराजगी के भय से यह बात सरला के मुँह पर कहने की हिम्मत तो नहीं की; फिर भी यह बात किसी तरह सरला के कान में पड़ ही गई। इसी से तो लोग कहते हैं कि – **'दीवारों के भी कान होते हैं।'** अतः **ऐसी बात कहना ही नहीं चाहिए, जिस बात को किसी से छिपाने का विकल्प हो और प्रगट हो जाने का भय हो।' जो भी बातें कहो, वे तौल-तौल कर कहो, ऐसा समझ कर कहो, जिन्हें सारा जगत जाने तो भी आपको कोई विकल्प न हो, भय न हो; बल्कि जितने अधिक लोग जाने, उतनी ही अधिक प्रसन्नता हो।**

* * *

निजानन्द भी बहुत दिनों से यह बात बहुत गहराई से अनुभव कर रहा था कि – "मैं भी कैसा स्वार्थी हूँ, प्रमादी हूँ कि कहाँ तो मैं शादी के तुरन्त बाद से ही सरला को इस तत्त्वज्ञान से सु-परिचित कराने की सोच रहा था और कहाँ बीस वर्ष यों ही निकाल दिये। अब तो इस दिशा में कुछ न कुछ विशेष व्यवस्था सोचनी ही होगी।

क्या भरोसा इस जीवन का ? जीवन की क्षणभंगुरता का सबक सीखने के लिए और तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा पाने के लिए क्या पापा और मम्मी के उदाहरण पर्याप्त नहीं हैं ? पापा तो अपने यौवन के दिन पूरे किए बिना भरी जवानी में ही चल बसे, लकवा ग्रस्त हो जाने से मम्मी के अरमान भी अधूरे ही रह गये।

जब भी मैं मम्मी से कहता – 'मम्मी थोड़ा स्वाध्याय को समय निकाल लिया कर ! तू मेरे लिए कितना समय बर्बाद करती है ?' तब उसका एक मात्र उत्तर होता –बेटा ! तू पढ़-लिखकर

तैयार हो जा। फिर जीवन भर धरम-करम ही तो करना है। तू धन्धा-व्यापार देखना, पापा का कारोबार सँभालना, बहू घर सँभालेगी और मैं सुख से बैठकर धर्म-ध्यान करूँगी।

अभी मुझे घर-बाहर—दोनों जगह देखना पड़ता है न! तेरे पापा होते तो मुझे करना भी क्या था, उनके रहते तो मैंने उनकी जीवन शैली से मात्र यही सीखा कि – 'जीवन कैसे जियें'। उनकी वही सीख मेरे काम आई, अन्यथा मैं तो कहीं की नहीं रही थी।

वे बड़े भाग्यवान थे। धर्म भी कर लेते और धन्धा भी देख लेते। परन्तु उनके जाते ही उनका पुण्य भी उन्हीं की परछाई की तरह उनके ही साथ चला गया। इसकारण उनका जमा जमाया कारोबार सब तितर-बितर हो गया। बेटा! मैंने तुझे कैसे पढ़ाया, कैसे घर चलाया, कैसे कारोबार को देखा और कैसे बिखरे हुए कारोबार को पुनः व्यवस्थित किया? – यह मात्र मैं ही जानती हूँ।

जो कर्मचारी तेरे पापा के परम भक्त थे, उनके इशारों पर नाचते थे, उनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे, जान तक देने को तत्पर रहते थे, मुझ से भी अम्मा-अम्मा कहते थकते नहीं थे; वे ही अब आँख बदल कर बातें करने लगे। जान देने के बजाय जान लेने पर उतारू हो गये।"

ऐसा कहते-कहते माँ की आँखों से अश्रुधारा बहने लगती।

वही माँ मेरे सँभलते-सँभलते, मेरी शादी होते ही बीमार पड़ गई, लकवा-ग्रस्त हो गई। इसकारण वह तो बेचारी अपने आत्मकल्याण के लिए कुछ भी नहीं कर पायी। सरला के साथ भी इस गलती की पुनरावृत्ति न हो, अतः अब सरला को तो शीघ्र ही घरेलू काम-काज से मुक्त करके धर्म के मार्ग पर लाना ही होगा।

•

चार

धनुष का बाण, बन्दूक की गोली और मुँह की बोली छूटने पर वापिस नहीं लौटती। अत: इनके प्रयोग में विवेक की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

सरला की सहेलियों के मुँह से एक व्यंग्यबाण निकल तो गया; पर बाद में जब सरला दु:खी हुई तो वे बहुत पछताईं; पर .....।

'अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।'

सरला ने क्रोधावेश में निजानन्द से पूछा – "क्यों जी, **दिया तले अन्धेरा** का क्या अर्थ है ?"

"मैं समझा नहीं, तुम पूछना क्या चाहती हो ! दिया तले तो अंधेरा होता ही है, इसमें कौन सी नई बात है, जो तुम जानना चाहती हो ? तुम्हारे मन में ऐसा अटपटा प्रश्न उठा ही क्यों ?"

"अजी, मैं क्या जानूँ आप लोगों की इन अटपटी-चटपटी बातों में ? मैं तो मात्र यह जानना चाहती हूँ कि जब **दिया तले अंधेरा** होता ही है तो फिर आपकी ये प्रिय शिष्यायें मुझे देख ऐसा क्यों कहतीं हैं ? क्या समझाना चाहतीं हैं वे मुझे यह कह कर ?"

"ओह ! यह बात है। अरे, सरला ! यह एक लोकोक्ति है, कहावत है। यह उन लोगों पर करारा व्यंग्य है, जिनके समीप ज्ञान प्राप्त करने के सुलभ साधन हों, जिनके आँगन में सम्यग्ज्ञान का दीप प्रज्ज्वलित हो रहा हो, जिनके जिनालयों में जिनवाणीरूप

दीप-शिखा की ज्योति सुबह-शाम जलती हो; फिर भी जो अभागे उसका लाभ नहीं लेते, फिर भी जिनमें अज्ञान अन्धकार व्याप्त हो, तो उन्हें लक्ष्य करके कहा जाता है कि **यह दिया तले अन्धेरा कैसा?**

मान लो कि - किसी का पिता प्रकाण्ड पण्डित है, किसी का पति नियमित सामूहिक स्वाध्याय/प्रवचन करके जिनवाणी रूप दीपक की ज्योति जला रहा है, फिर भी उसका पुत्र और पत्नी तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ हों तो ऐसा कहा जा सकता है, ऐसा पूछा जा सकता है कि - **यह दिया तले अन्धेरा क्यों है ?"**

"यह तो ठीक है; परन्तु मुझे निशाना बनाकर, मेरी ओर तिरछी निगाहों से देखकर और मन ही मन मुस्कुराकर **दिया तले अन्धेरा** क्यों कहतीं हैं वे ?

माना कि मैं तत्त्वज्ञान से अनजान हूँ, उन जैसी तत्त्वाभ्यासी नहीं हूँ, किन्तु क्या किसी के मुँह पर ही ऐसा कहना उचित है ?

वैसे तो जिनागम अगाध है, सभी लोग सब कुछ नहीं जान सकते। फिर, मुझे तो घरेलू कामों में कितना व्यस्त रहना पड़ता है, जो आप से भी छिपा नहीं है। आपके छोटे-छोटे काम ही इतने हो जाते हैं कि प्रवचन में भी समय पर नहीं पहुँच पाती।"

"पर कौन हैं वे, जो तुमसे ऐसी गुस्ताखी करने का दुःसाहस करतीं हैं ?"

"अरे, और कौन कहेगा, वे ही आपकी मुँहलगी सुनीता, विनीता। पता नहीं, वे अपने आप को क्या समझतीं हैं ?"

"ओह ! सुनीता, विनीता ! पर वे तो ऐसीं नहीं दिखतीं, जो तुम्हें चिढ़ाने के लिए ऐसा कहें या तुम्हारा अनादर करें।"

"अजी, दिखने को किसी को क्या दिखेगा ? स्वयं को ज्ञानी मान लेने पर किसी के सींग थोड़े ही उग आते हैं; पर वे अपने आप को ज्ञानी और दूसरों को अज्ञानी मानतीं हैं, तभी तो ऐसा

व्यवहार करती हैं; पर आपको तो सब देवियाँ ही दिखती हैं न ?"

"तुम भी जरा सी बात का बतंगड़ बना रही हो, इसमें ऐसा क्या कह दिया उन्होंने तुमसे, जो तुम इतनी परेशान हो गईं हो ? जो मैंने तुम्हें बताया इससे अधिक और कुछ अर्थ नहीं है उस लोकोक्ति का। उन्होंने तुममें कुछ ऐसी कमी देखी होगी, जिसकी उन्हें तुमसे आशा व अपेक्षा नहीं होगी। हो सकता है, तुम्हारे व्यवहार में, चर्चा में या चर्या में कोई कमी नजर आयी हो उन्हें ! समझदार के लिये तो उनका यह इशारा (संकेत) ही काफी है, जो तुम्हें समझना चाहिए, न कि उन पर क्रोध करना चाहिए।

देखो, उस कहावत में यह सन्देश भी छिपा है कि **तुम यथाशीघ्र जिनवाणी रूपी दिये के प्रकाशपुञ्ज से अपने अज्ञानान्धकार को मिटाकर सम्यग्ज्ञान की किरणों से आत्मा को आलोकित करो।"**

"ठीक है, ठीक है; तुम तो उन्हीं का पक्ष लोगे। जैसे मैं तो तुम्हारी कुछ लगती ही नहीं हूँ। मुझमें ही तुम्हें सब दोष दिखते हैं। वे तो मानो गुणों की गोदाम ही हैं।

देखो जी, भले ही मुझे विशेष तत्त्वज्ञान नहीं है; परन्तु यह तो तुम भी जानते हो कि मैं दुनियादारी को समझने में बिलकुल बुद्धू भी नहीं हूँ। मैं उड़ती चिड़िया परख लेती हूँ। क्या मैं इतना भी नहीं समझती ? कौन/कहाँ से/क्या कह रहा है ? किस पर/क्या/कैसा कटाक्ष कर रहा है ? उनके बातचीत के तरीके और चेहरे के हाव-भाव से सब ख्याल में आ जाता है। मैं कोई दूध पीती बच्ची नहीं हूँ। मैंने भी दुनिया देखी है।"

"तुम्हारा कहना तो ठीक ही है; मैंने भी तुमसे कब कहा कि तुम कुछ नहीं समझतीं ? तुम तो कालेज की पढ़ी-लिखी फर्स्टक्लास ग्रेजुयेट महिला हो और तुम्हें दुनियादारी का अनुभव तो है ही; ज्ञानी-ध्यानी-धर्मात्मा भी तो तुम कम नहीं हो। देखो न !

बिना-पूजा-पाठ किए तो तुम पानी तक नहीं पीती, व्रत-उपवास भी तुम्हारे बराबर कोई नहीं करता। कुँए का पानी, अठपहरा घी, हाथ चक्की का आटा। तुम्हीं बताओ ! तुम्हारे सिवाय इतना सब कौन करता है इस जमाने में ? फिर भी वे सुनीता, विनीता कुछ समझती क्यों नहीं हैं ? जो ऊल-जलूल टिप्पणियाँ करके तुम्हारा दिल दुखाया करतीं हैं।

देखो सरला ! वे समझें न समझें, उनकी समझ उन पर छोड़ दो; पर तुम तो इतनी ज्ञानी-ध्यानी हो; फिर भी उनके इतने से कहने मात्र से इतनी आग-बबूला क्यों हो जाती हो ? यदि तुम ज्ञानी हो तो किसी के कहने मात्र से या मानने मात्र से अज्ञानी नहीं हो सकती। और यदि सचमुच अभी वर्तमान पर्याय में सूक्ष्म तत्त्वज्ञान से अनजान हो तो किसी खुशामदी व्यक्ति के द्वारा झूठी प्रशन्सा पाने से तुम ज्ञानी नहीं हो जाओगी।

अतः दूसरों के अच्छे-बुरे व्यवहार से तुम्हें प्रभावित नहीं होना चाहिए। अन्यथा तुम्हारा सुखी रहना या दुःखी होना तुम्हारे हाथ में न रहकर दूसरों के हाथ में चला जायेगा। फिर तो कोई भी व्यक्ति तुम्हें कुछ भी कहकर दुःखी कर देगा।

देखो ! जिनागम के अनुसार सभी जीव स्वभाव से तो पूर्ण स्वतन्त्र व स्वावलम्बी हैं ही, पर्याय में भी सुखी होने के लिए उन्हें पर से अप्रभावी रहकर अपनी स्वतन्त्रता व स्वाधीनता को ही पहिचानना है।

आखिर ऐसा क्या कह दिया उन्होंने ? मात्र कहावत ही तो कही थी। ऐसा कौनसा गम्भीर अर्थ निकाल लिया तुमने अपनी अकल से उस कहावत का ? जरा मैं भी तो सुनूँ ?"

"अजी उस कहावत का अर्थ समझने के लिए मुझे अपनी अकल तो लगानी ही नहीं पड़ी। एक दिन सुनीता ने स्वयं ही सब

बता दिया व्याख्या करके।

अजी, सुनीता मन्दिर में चौकी पर अपने सामने शास्त्र रखे विनीता से कह रही थी – 'कर्मों की करामात तो देखो ! कभी-कभी, कैसे-कैसे विचित्र मेल मिला देते हैं ये कर्म ? कहाँ सरला के पति और कहाँ सरला ? एक ओर ऐसे अध्यात्म तत्त्ववेत्ता, ज्ञान के प्रकाशपुञ्ज और प्रखर वक्ता; जिनके कण्ठ में साक्षात् सरस्वती का वास है और जिनकी वाणी में कोई ऐसा जादू है कि कठिन से कठिन विषय भी बच्चे-बच्चे की समझ में आ जाए।

विनीता ! तूने तो स्वयं उनके प्रवचन सुने हैं न ? सभी श्रोता कैसे गद्‌गद् हो जाते हैं ? और दूसरी ओर कहाँ उनकी श्रीमती सरला ? बनती तो बहुत धर्मात्मा और समझदार है; पर तत्त्वज्ञान में समझती कुछ भी नहीं है। पिछले पच्चीस वर्षों से परछाँई की भाँति पति के साथ रहकर भी ज्यों की त्यों अज्ञान अन्धकार में डूबी है। उसे अपने कर्तृत्त्व का इतना अभिमान है कि कुछ पूछो मत। कविता बना-बनाकर कह रही थी –

'आधुनिक फैशन में किसी युवती से कम नहीं।
अज्ञान अंधकार में रहने का जरा भी गम नहीं।।'

कवियत्री है न ! क्या सचमुच मैं ऐसी हूँ ?"

"क्या बात करती हो सरला ! तुमने तो मुझसे अनेक बार कहा कि – आप मुझको पढ़ाने को थोड़ा समय अलग से दे दिया करो; पर मैं ही तुम्हें समय नहीं दे पा रहा हूँ।"

"अजी, अकेली सुनीता ही अधिक बोलती है, बेचारी विनीता तो चुपचाप सुनती रहती है, उसकी गलती तो बस इतनी है कि वह सुनीता की बातों का प्रतिकार नहीं करती।"

विनीता ने बातचीत के बीच में ही सुनीता से पूछा – "क्या सरला के पति उससे कुछ नहीं कहते होंगे ?"

"कहते क्यों नहीं होंगे ? जिन्हें निःस्वार्थ भाव से सारी दुनिया को जिनागम के सत्य तथ्य समझाने की हार्दिक भावना है, वे धर्मपत्नी से कुछ न कहें - ऐसा कैसे हो सकता है ? परन्तु वह तो स्वयं को पति से भी दो कदम आगे समझती है। क्रियाकाण्ड जो करती है। वह पति की सुनती ही कहाँ होगी ? ऐसी स्त्रियाँ पति की परवाह ही कहाँ करतीं हैं ? उनकी सुनती ही कब हैं ?"

"सुनीता ऐसे-ऐसे आरोप लगाती है मुझपर ! आप ही बताइये कि – क्या मैं आपकी परवाह नहीं करती ? क्या धर्म की क्रिया करना बुरी बात है ? यदि मैं व्रत-उपवास करती हूँ तो इसमें क्या गलती करती हूँ ? क्या मुझे पूजा-पाठ, व्रत-उपवास नहीं करना चाहिए ? यह तो अपनी-अपनी शक्ति और भक्ति की बात है न ? उनसे व्रत-उपवास करते नहीं बनता तो नहीं करें, परन्तु वे करने वालों पर छींटाकसी व कटाक्ष क्यों करतीं हैं ?"

"तुम्हें इन सब बातों का पता कैसे लगा ? तुम लोगों को परस्पर लड़ाने-भिड़ाने के लिए कोई बीच में गड़बड़ी तो नहीं कर रहा ?"

"नहीं, नहीं; मैंने अपने कानों से सुना है। जब उनकी ये बातें हो रही थीं, तब संयोग से मैं भी वहीं एक खम्भे की आड़ में बैठी जाप जप रही थी। भाग्य से उनकी नजर मेरे ऊपर नहीं पड़ी, अन्यथा यह सब सुनने को कहाँ से मिलता ?"

"तो तुमने यह सब जाप जपते-जपते सुना !"

सरला अपनी भूल का अहसास कर सहम गई।

निजानन्द ने आश्वस्त करते हुए कहा – "कोई बात नहीं, कभी-कभी ऐसा भी होता है। अस्तुः देखो, सरला ! यद्यपि वे तुम्हारे बारे में कुछ अधिक ही बोल गयीं, उन्हें ऐसा कुछ नहीं कहना चाहिए था, जिससे तुम्हें मानसिक पीड़ा हो, दिल को ठेस लगे;

परन्तु तुमको भी उनकी इन बातों का बुरा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि इन सब बातों से ऐसा तो नहीं लगता कि वे तुम्हारी निन्दा या बुराई करके तुम्हें नीचा दिखाना चाहतीं हों। वे ऐसीं हैं भी नहीं। जो मेरे प्रति इतना आदर भाव रखतीं हैं, भला वे तुम्हारी निन्दा करके तुम्हें नीचा क्यों दिखाना चाहेंगीं ?

हो सकता है, उनके मन में तुम्हारे प्रति भी पवित्र भाव हो, विशेष अनुराग हो। अतः तुम्हें सजग करना चाहतीं हों, जो कमी उन्हें तुममें प्रतीत होती है, उसे दूर करना चाहतीं हों। अतः ऐसे सन्केतों की भाषा में अपने दिल की बात तुम तक पहुँचाना चाहती हों।

उनके व्यवहार से यह बात तो तुमने भी महसूस की ही हो होगी कि वे तुम्हारे प्रति सहानुभूति रखती हैं, अन्यथा जिनमन्दिर जैसे पवित्र और महत्त्वपूर्ण स्थान में, जहाँ धर्मकथा के सिवाय सभी विकथाएँ करना वर्जित होता है; वे तुम्हारी चर्चा करतीं ही क्यों ? उस चर्चा में सुनीता विनीता को यही तो बताना चाहती थी कि - जिसका पति इतना प्रतिभाशाली हो, बुद्धिमान वक्ता एवं कुशल लेखक हो, जो धर्म ज्ञान के लाभार्थ ही अपनी पत्नी को सदैव साथ रखता हो; उसकी पत्नी यदि उसके सत्संग का लाभ न ले और केवल परिचारिका बनकर रह जाए तो इससे बड़ा दुर्भाग्य उसका और क्या होगा ? उसके बारे में गली-गली में, मोहल्ले-मोहल्ले में, गाँव-गाँव में, नगर-नगर में यही तो पूछा जायेगा कि **यह दिया तले अंधेरा कैसा ?** इस चर्चा के साथ-साथ वे अफसोस भी प्रकट कर रही थीं।

इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि दूसरों को मात्र सन्देह की नजर से न देख कर हमें आत्मनिरीक्षण भी तो करना चाहिए।" •

पाँच

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि – देह में लगे धनुष के बाणों की चुभन से हृदय में लगे व्यंगबाणों की चुभन अधिक पीड़ादायक होती है।

जब सरला की सहेलियों ने 'दिया तले अंधेरा' कहकर सरला पर व्यंगबाण छोड़ा तो वह तिलमिला गई थी। उसे क्रोध आ गया था। वह स्वयं को सँभाल न सकी थी। उसने क्रोधावेश में अपने परम श्रद्धेय पूज्य पति पर कटाक्ष करते हुये सुनीता विनाता के बारे में शिकायत तो की ही, साथ में और भी बहुत कुछ कह डाला था।

निजानन्द ने अपनी शिष्याओं के विवेक पर विश्वास जताते हुए कहा था – "सरला! तुम उन्हें इतनी घटिया किस्म की महिलायें मत समझो।

उन्हें क्या पड़ी कि तुम्हारी निन्दा करके स्वयं नीचगोत्र कर्म का बन्ध करे? वह भी **जिनमन्दिर में जहाँ धर्मकथा के सिवाय कोई यहाँ-वहाँ की बातें करना महान पापबन्ध का कारण है।**

यदि घर-गृहस्थी में या वाणिज्य-व्यापार में कोई पाप हो जाता है तो हम अपनी आलोचना करके मन्दिर में उसका प्रायश्चित कर लेते हैं; परन्तु **जो मन्दिर में ही विकथा करके पापभाव करेगा तो उसे पाप का वज्र-लेप होता है।"**

सरला ने कहा – "अरे! क्या मन्दिर में घर-बाहर की बातें करने से पापों का ऐसा वज्र लेप होता है? इसकी तो मुझे खबर

ही नहीं थी। मैं तो अबतक दुनियादारी की सारी बातें मन्दिर में ही कर लिया करती थी। अब भविष्य में धर्मस्थान में ऐसी कोई बात नहीं करूँगी।"

निजानन्द ने कहा – "ठीक है; परन्तु यह भी ध्यान रखो कि किसी बात पर अपनी प्रतिक्रिया प्रगट करने के पहले उस बात की पूरी तरह छानबीन करलो, ताकि बाद में पछताना न पड़े।

रही तुम्हारी व्यस्तता की बात, सो यह तो तुम्हारी व्यक्तिगत बात है। यह समय की समस्या तो हीनाधिक रूप में सभी के सामने रहती है। अतः जितना/जैसा सम्भव हो, समय निकालना ही चाहिए।

अस्तु! अबतक जो हुआ सो हुआ। अब ऐसा प्रयास करो ताकि लोग तुम्हारे सामने या तुम्हें लक्ष्य करके यह कहावत कहना ही भूल जायें। तुम व्रत-उपवास आदि तप-त्याग तो करती ही हो, थोड़ा सा तत्त्वज्ञान का अभ्यास भी हो जाए तो मणि-काञ्चन योग हो जायेगा। फिर तुम सचमुच मुझसे भी दो कदम आगे दिखोगी।"

"ऐसा कहकर आप मुझे लज्जित क्यों करते हो? कहाँ आप और कहाँ मैं? थोड़ा बहुत खान-पान बदल जाने से कोई धर्मात्मा थोड़े ही हो जाता है। और फिर आप भी कौनसा अभक्ष्य-भक्षण करते हो? केवल कुएँ का पानी और अठपहरे घी को गौण कर दो, फिर मेरे और आपके खान-पान में अन्तर ही क्या रह जाता है? कुछ भी नहीं। सचमुच आप जैसा अनासक्त भाव मुझमें कहाँ? मुझमें तो ये सब माता-पिता के संस्कार हैं, जो चले आ रहे हैं। मैंने अबतक नया तो कुछ भी उपलब्ध नहीं किया।"

"यह तो तुम्हारा बड़प्पन है, जो तुम अपनी ही कमी देख रही हो; परन्तु व्रत, संयम, तप और त्याग के बिना भी तो साधना अधूरी ही है। अतः यह सामर्थ्य भी कब प्रगट हो – ऐसी भावना तो

सब में निरन्तर रहनी ही चाहिए तथा ये सब व्रतादि अभ्यासरूप में यथाशक्ति बुद्धिपूर्वक प्रतिज्ञायें लेकर भी करने चाहिए। यदि वर्तमान में हम से सम्भव न हो तो न करें; परन्तु अपनी कमजोरी छुपाने के लिए दूसरों के संयमी जीवन के बारे में टीका-टिप्पणी करना तो बिल्कुल गलत बात है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि तुममें तत्त्वज्ञान और मुझमें संयम की सामर्थ्य प्रकट हो जाए तो फिर हम दोनों बड़े गौरव के साथ मोक्षमार्ग में कदम से कदम मिलाकर चल सकेंगे।"

"हाँ, इसे तो मैं भी मानती हूँ कि आपके साथ परछांईं की भाँति रहकर भी मैं अबतक तत्त्वज्ञान के बहुत बड़े लाभ से वञ्चित हूँ। भले ही आपके आधे-अधूरे प्रवचन सुन-सुनकर मोटी-मोटी बातें सीख लीं हैं; परन्तु बहुत सी सूक्ष्म बातें मेरे ध्यान में अभी भी नहीं आ पाईं हैं, जो ध्यान में आ भी गईं, वे चित्त की चञ्चलता या अस्थिरता के कारण धारणा में नहीं ठहर पाईं।"

"अरे ! सरला ! अनेक बार तो यह जीव समवशरण में जाकर भी खाली हाथ ही लौटा है।"

"बस, यही तो हो रहा है मेरे साथ ! अतः उन सुनीता-विनीता का सोचना भी नितान्त गलत तो नहीं है; परन्तु मैं भी क्या करूँ ? अबतक मेरी भी बहुत कुछ ऐसी मजबूरियाँ थीं कि चाहकर भी मैं अपने उपयोग को एकाग्र नहीं कर सकी। देह से आपके सान्निध्य में रहकर भी चित्त बाहर की व्यवस्थाओं में ही विकेन्द्रित बना रहा। अब मैं थोड़ी सी निर्वृत्त हुई हूँ, अतः अब शीघ्र ही मैं अपनी इस कमी को पूरा करने की कोशिश करूँगी, परन्तु इसमें आपका सहयोग अपेक्षित है।

देखो जी, मैं सुनीता के बारे में तो यह सोचकर भी सन्तोष कर लेती हूँ कि – यदि वह खोटे अभिप्राय से भी व्यंग्य करती है,

तो भले करे। उसका परिणाम उसके साथ है; उसकी इस समीक्षा से मेरा तो भला ही है। अतः मैं बुरा क्यों मानूँ ? मैं आवेश में आपसे जो कुछ कह गई, उसके लिए मैं क्षमा चाहती हूँ।

वैसे वे दोनों आपकी परमभक्त हैं; सबसे पहले आतीं और प्रवचन में सबसे आगे बैठतीं हैं, बड़े ध्यान से सुनतीं हैं, समझतीं भी हैं, उन्हें किसी के बारे में कुछ कहने-सोचने की फुरसत कहाँ ? फिर भी उन्होंने तो मेरे बारे में घण्टों सोचा है और आपकी नाराजगी की परवाह न करके सच कहने का साहस किया है तो अवश्य ही अनुराग वश ही कहा-सुना होगा। एतदर्थ मुझे तो उनका आभार ही मानना चाहिए। बुरा मानने की तो इसमें कुछ बात ही नहीं थी। पर न जाने क्यों ? सच भी कभी-कभी कड़वा लगता है। जैसे ज्वर वालों को दूध भी कड़वा लगता है न ? वैसे ही **जिसे अज्ञान का ज्वर चढ़ा हो, कषायों की तपन हो तो उसे सत्य भी कड़वा लगता ही है।** यही स्थिति मेरी है, इसके लिए मैं लज्जित हूँ।"

"देखो, यह तो तुम्हारी बुद्धिमानी ही है, जो तुमने इस बात को अपने ऊपर ही घटित करके उसे अच्छे अर्थों में ही लिया है, अन्यथा तुम्हें उनके प्रति घृणा भी हो सकती थी, द्वेष भी जग सकता था, जो अनन्त कर्मों के बन्ध का कारण बन जाता। जिनकी भली होनहार होती है, उन्हीं को ऐसी सद्बुद्धि आती है। निश्चित ही तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है; इसकी मुझे प्रसन्नता है।"

"आप जैसे ज्ञान-दीप के सान्निध्य में रहकर भी सचमुच मेरे जीवन में अभी तक अज्ञान का अन्धेरा है। इसका मुझे हार्दिक अफसोस है।" – सरला ने कहा।

निजानन्द बोला – "अरे ! तुमने तो मेरे मुँह की बात छीन ली। यही बात मैं तुमसे कहना चाहता था; परन्तु इस आशंका से नहीं कह पाया कि तुम मेरी इस बात को सुनकर कहीं हीन

भावना से कुन्ठित न हो जाओ। अब तुम्हें अपनी कमजोरी का स्वतः ही आभास हो गया है, जो बहुत अच्छी बात है।"

देखो, **जैनतत्त्व जितना सूक्ष्म है, उसे समझने के लिए अपने उपयोग को भी उतना ही सूक्ष्म-पैना करना आवश्यक है,** अन्यथा बात माथे के ऊपर से ही निकल जाती है। कुछ हाथ नहीं लगता।

तुम तो क्या ? बड़े-बड़े विद्वान, जो अपने को जैनतत्त्व का विशिष्ट वेत्ता मानते हैं तथा दूसरे लोग भी उनके क्षयोपशम विशेष से उनको बड़ा विद्वान मानते हैं; उन्हें भी जिनागम के सिद्धान्तों की मूल भावना का भान नहीं है। अधिकांश तो अब भी भ्रमित ही हैं। अतः जैन तत्त्वज्ञान की किसी भी बात को हल्के-फुल्के से नहीं; बल्कि पूर्ण सजग होकर, उपयोग को सूक्ष्म करके और स्वयं को निष्पक्ष रखकर ध्यान से सुनना चाहिए।

अबतक यह कमी रह गई, इसीकारण लोगों को यह कहने का मौका मिल गया कि **यह दिया तले अंधेरा कैसा** ? वैसे तुम्हारे सामान्य ज्ञान में कोई कमी नहीं है, सुनते-सुनते जैनतत्त्व का शाब्दिक ज्ञान और पारिभाषिक परिचय भी हो ही गया है।"

सरला ने स्वीकार लिया – "आप बिल्कुल ठीक कहते हैं; मुझे भी अपनी कमी का आभास हो रहा है। उपयोग की अस्थिरता ही उसका एकमात्र कारण है। मैं प्रवचन में तो बैठी; पर उपयोग की एकाग्रता के अभाव में प्रवचन के भाव को अपने अन्दर नहीं बिठा पायी, प्रवचन का सार नहीं समझ पायी।

अब, जब मैं अपने जीवन की समीक्षा करती हूँ तो पता लगता है कि - प्रारम्भिक जीवन का लगभग आधा समय तो अपनी लौकिक पढ़ाई, वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों एवं बाल-बच्चों के पालन-पोषण और पारिवारिक उलझनों में यों ही चला गया। सुनने-समझने में उपयोग केन्द्रित ही नहीं हो पाया। इस कारण

मेरा आपके साथ रहना भी न रहने जैसा ही हो गया।

आप जैसे ज्ञान के उत्कृष्ट साधन का घर में ही सहज रूप से सदा उपलब्ध रहना भी मेरा सौभाग्य बनने के बजाय उल्टा दुर्भाग्य बन गया; क्योंकि मैं यह सोच-सोचकर रह गई कि - चलो, अभी यह काम निबटा लें, वह काम निबटा लें, ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ साधन घर ही में तो हैं, जब चाहें तब तसल्ली से समझ लेंगे – ऐसा सोचते-सोचते सारा समय यों ही निकल गया। वह तसल्ली से समझने का अवसर आजतक नहीं आ पाया।

एक तो मैंने आपकी बातों को आत्मकल्याण की भावना से गम्भीरतापूर्वक सुना ही नहीं, जो थोड़ा-बहुत प्रसंगवश सुनने में आ गया, वह भी इस कान सुना, उस कान निकल गया, धारणा के अभाव में स्वतः विस्मृत होता रहा।

अब, जब मैं आपके स्वभाव में पहले की और अब की गम्भीरता व धीरता में जमीन-आसमान का अन्तर देखती हूँ और स्वयं को जैसे का तैसा पाती हूँ तो यह स्पष्ट समझ में आता है कि मन की स्थिरता से जिनवाणी का अध्ययन-मनन न करके मैंने क्या खोया है और मनोयोगपूर्वक अध्ययन/मनन/चिन्तन और तदनुरूप आचरण करके आपने क्या पाया है ?

मैं ऐसी पागल हो गई कि बाह्य व्रत-उपवास और खान-पान की शुद्धि एवं पूजा-पाठ में ही अपने को धर्मात्मा मानने लगी तथा इसी में मन ही मन प्रसन्न व सन्तुष्ट होती रही; जो कि विशुद्ध पुण्य का परिणाम है। धर्म के नाम पर अबतक जो कुछ भी किया, उसका फल समताभाव तो जीवन में आया ही नहीं। पर और पर्याय के प्रति ममता भी किञ्चित् कम नहीं हुई। अबतक जो कुछ धर्म कार्य किये, वे सब लोकलाज वश एवं पुण्य के लोभ व पाप के भय से ही किये। सो ऐसा धर्म तो अनन्त बार कर-करके

छोड़ा। उससे हुआ क्या ? कुछ भी नहीं।

अब, जब बहुत कुछ शक्ति क्षीण हो गई, तब कुछ-कुछ समझ में आ रहा है। परन्तु अब कितना/क्या हो पाएगा, कुछ कह नहीं सकती !"

"ऐसी निराशा की आवश्यकता नहीं है; प्रयोजनभूत जैन तत्त्वज्ञान ऐसा भारी-भरकम नहीं है; जिसकी साधना/आराधना में बहुत शक्ति व समय लगे। बस, रुचि पलटने भर की देर है, फिर तो सारा मुक्तिमार्ग अत्यन्त सरल व सहज हो जाता है।"

इस तरह निजानन्द ने सरला को प्रोत्साहित करते हुए मन ही मन सोचा – "सार्वजनिक प्रवचनों में तो सूक्ष्म तथ्यों की ओर सरला का ध्यान केन्द्रित करना कठिन ही है, अतः कुछ दिनों तक इसे थोड़ा समय अलग से ही देना पड़ेगा। आखिर पत्नी ही तो है। घर-परिवार के लौकिक कामों में तो घण्टों परस्पर साथ-साथ रहते ही हैं तथा यह भी मेरी सेवा में लगी ही रहती है। अतः मेरी भी तो उसके प्रति कुछ नैतिक जिम्मेदारी है; अन्यथा मेरी धर्मपत्नी होने का उसे लाभ ही क्या मिला ?"

ऐसा विचार कर निजानन्द ने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि – "मैं सरला को प्रति दिन एक घण्टे का समय अलग से देकर उसे तत्त्वज्ञान में कम से कम सुनीता-विनीता की श्रेणी में तो खड़ा कर ही दूँगा, ताकि वह मानसिक दुःख से तो बची रहे; संक्लेश परिणामों में तो उसका जीवन व्यतीत न हो। इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देव भी इस छोट-बड़े के भेदों के कारण होने वाले मानसिक दुःख से नहीं बच पाते। वे भी अज्ञान जन्य हीनभावना से ग्रसित रहते हैं। अतः इस दुःख से बचने के लिए तत्त्वज्ञान तो अनिवार्य ही है।" •

छह

आज के युग में आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता की भूमिका बनाते हुए निजानन्द ने सरला से कहा –

"शारीरिक दुःख कैसा भी क्यों न हो, कितना भी अधिक हो; फिर भी व्यक्ति बर्दाश्त कर लेता है, सह लेता है; परन्तु मानसिक दुःख असह्य होता है, उसे व्यक्ति बर्दाश्त नहीं कर पाता। वह भयंकर भी होता है; क्योंकि वह अज्ञानजन्य व कषायजन्य ऐसी मानसिक विकृति है, जो जीवों को विवेकशून्य बना देती है। परिणामस्वरूप व्यक्ति आत्मघात तक कर लेता है।

शारीरिक पीड़ा से परेशान होकर शायद ही किसी ने आत्मघात किया हो, पर मानसिक दुःख से हुई आत्मघात की घटनायें आये दिन समाचार पत्रों में पढ़ने को मिल जायेंगीं। जितनी छपतीं हैं, उनसे भी कई गुनी अधिक होती हैं; क्योंकि प्रेस को तो बहुत सीमित समाचार ही उपलब्ध हो पाते हैं।

कभी सास-बहू के झगड़े में बहू जलकर मर जाती है और सास को जेल हो जाती है। कहीं भाई-भाई के झगड़े में क्रोधावेश में आकर एक भाई दूसरे की जान ले लेता है और हत्यारे को फाँसी के फन्दे पर लटकना पड़ता है। कभी प्रेमी के चक्कर में प्रेमिका जहर खा लेती है और प्रेमी पँखे से लटक कर मर जाता है। कभी छात्र-छात्रायें परीक्षा में असफल हो जाने के कारण रेल पटरी पर लेटकर अपना दुर्लभ मनुष्य जीवन नष्ट कर लेते हैं।

ये सब हत्यायें और आत्महत्यायें असह्य मानसिक पीड़ा के दुष्परिणाम ही तो हैं; जो कि तत्त्वज्ञान के अभाव में होते हैं। इससे तुम स्वयं समझ सकती हो कि- आज के युग में आध्यात्मिक अध्ययन-मनन की कितनी अधिक आवश्यक्ता है।

वैसे तो जिनागम अगाध है; परन्तु प्रयोजनभूत वस्तुस्वातन्त्र्य जैसे सिद्धान्तों का ज्ञान तो अति आवश्यक ही है।

यदि हम वस्तुस्वातन्त्र्य और कर्त्ता-कर्म जैसे मौलिक सिद्धान्तों को समझ लें तो फिर ऐसे प्रसंग ही नहीं बनेंगे, जिनके कारण इतने संक्लेश परिणाम हों कि किसी को आत्मघात करके मरना पड़े।

ध्यान रहे, संक्लेश परिणामों के साथ आत्मघात करने से दुर्लभ मानव जीवन का अंत तो हो ही जाता है, मर कर भी वे जीव उन उलझनों से मुक्त नहीं हो पाते, जिन कारणों से उन्होंने आत्मघात किया है। उन्हें नियम से ऐसी कुगति ही प्राप्त होती है कि जिसमें उन्हें पहले से भी कई गुनी प्रतिकूलता प्राप्त होती है।

इन कुगतियों से बचने का यही एकमात्र स्वर्ण अवसर है; क्योंकि अभी इस मानव जीवन में हमें सब तरह की अनुकूलता सहज प्राप्त है। यदि यह अवसर चूक गये तो यों ही चार गतियों एवं चौरासी लाख योनियों में अनन्तकाल तक जन्म-मरण करते रहेंगे।

जिसतरह बहुमूल्य रत्न यदि हाथ से छूटकर समुद्र के बीच गहरे पानी में गिर जाय तो फिर कभी हमारे हाथ नहीं लगता; उसीतरह यह दुर्लभ मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जिनवाणी के श्रवण का श्रेष्ठ अवसर यदि हमने यों ही खो दिया तो फिर यह सुअवसर हमें पुनः प्राप्त होने वाला नहीं है।"

"आप बिल्कुल सही कह रहे हैं। इसमें जरा भी सन्देह

नहीं है। ये सब आप-बीती और जग-बीती बातें हैं।

मानवजीवन का मूल्य तो अब मेरी समझ में बहुत अच्छी तरह आ गया। अतः अब आप सबसे पहले मुझे वह सम्यग्ज्ञान कला जरूर सिखायें; क्योंकि कभी-कभी मैं भी मानसिकरूप से इतनी अधिक परेशान हो जाती हूँ कि इस जीवन से ही 'जी' ऊब जाता है। मन में निराशा के बादल छा जाते हैं और बुरे-बुरे विचार आने लगते हैं। जबकि मुझे आपकी ओर से तो हर तरह से पूरी-पूरी अनुकूलता है ही; घर-परिवार में भी कोई ऐसा कारण दिखाई नहीं देता। मुझे स्वयं ही समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों होता है ?"

"सरला ! बाह्यकारण तो निमित्तमात्र हैं; वस्तुतः तो अपना आध्यात्मिक अज्ञान ही अपने दुःख का मूल कारण है। अधिक अनुकूलता में भी तो उस अनुकूलता के प्रति तीव्र राग हो जाता है और उनमें अपने अज्ञान के कारण इष्टबुद्धि तो है ही; उन इष्ट संयोगों का कभी वियोग न हो जाय – इस आशंका मात्र से हमें आकुलता होने लगती है।

देखो न ! देवगति में जब मरण के छह माह पूर्व देवों के गले की माला मुरझाने लगती है तो मिथ्यादृष्टि देव अपना मरण निकट जानकर विलाप करने लगते हैं और परिणामस्वरूप नियम से उनकी अधोगति ही होती है।

तुम्हें भी ऐसा ही कोई कारण मानसिक परेशानी पैदा करता होगा ?"

"अस्तु: ! जो भी हो, उसे जाने दो। आप तो यह बताओ कि उन मानसिक परेशानियों से बचने का क्या उपाय है ? अब मैं ऐसा तनावग्रस्त जीवन नहीं जीना चाहती, जो मेरी शान्ति भंग करता है, मेरी नींद हराम करता है।"

"हाँ सुनो ! **जैनदर्शन का वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त ही इस**

मानसिक राजरोग से बचने का एकमात्र अमोघ उपाय है। यही आत्मज्ञान है, यही तत्त्वज्ञान है और यही सम्यग्ज्ञान की वह कला है, जो हमें सुखी जीना सिखाती है। अतः क्यों न कल से ही हम और तुम - दोनों घर-बाहर के सब कार्यों से निर्वृत्त होकर रात्रि में विश्राम से पूर्व एक घण्टा स्वाध्याय प्रारम्भ कर दें ? क्योंकि विशेष प्रयत्न किये बिना उस सम्यग्ज्ञान कला को प्राप्त करना सुलभ नहीं है और सम्यग्ज्ञान कला के बिना सच्चा सुख एवं मानसिक शान्ति प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

यही वह अशोकवृक्ष है, कल्पतरु है, जिसमें सुख-शान्ति के फल लगते हैं।"

"कल से ही क्यों ? यह काम तो आज से ही प्रारम्भ हो सकता है। शुभ काम में देर क्यों ?"

"ओह ! इतनी जल्दी भी क्या है ? सब काम शान्ति से ही होने चाहिए न !"

"अजी, कल-कल करते ही तो इतना समय यों ही निकल गया है। अब मैं इस कल्याणकारी काम को कल पर नहीं छोड़ना चाहती। किसी कवि ने ठीक ही कहा है –

'काल करन्ता आज कर, आज करन्ता अब्ब।
पल में परलय होयगी, बहुरि करेगा कब्ब।।'

अब मुझे तो इस 'कल' शब्द से ही चिढ़-सी हो गई है; क्योंकि कल आने के पहले ही कोई न कोई चक्कर चल ही जाता है और स्वाध्याय की बात फिर कल पर रह जाती है। धक्का खाने को बेचारा एक धर्म ही तो है, जिसे कल पर धकेला जा सकता है। अपने पास ऐसा सातिशय और अखण्ड पुण्य भी कहाँ है, जो धर्म के कामों को निर्विघ्न होने में निमित्त बनता है ?"

"तुम्हारा कहना सत्य है। यह बात भी बहुत अच्छी है कि– यह

काम शीघ्र प्रारम्भ करें; पर तुम ऐसी निराशा की बात मत किया करो कि तुम्हारे पास ऐसा पुण्य नहीं है। अरे! तुम जैसा पुण्य तो बहुत कम लोगों के पास होता है। बाहर में तो सब अनुकूलता है ही, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए तुम्हारी यह छटपटाहट ही तुम्हारे सातिशय पुण्य का फल है। और यह भावना विशेष पुण्यबन्ध का कारण भी है।

वैसे तो आज ही प्रारम्भ कर लेते; पर आज चतुर्दशी है न? यह तिथि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार रिक्ता तिथि होने से अशुभ मानी गई है।" – निजानन्द ने कहा।

"क्या आप भी ज्योतिष शास्त्र में विश्वास करते हैं ?"

"कैसी बातें करती हो, इसमें विश्वास करने न करने की क्या बात है ?" – निजानन्द ने स्पष्टीकरण किया।

"आप तो निमित्तों को मानते ही नहीं हो और ज्योतिष शास्त्र तो पूरा निमित्तज्ञान ही है।"

"यह तुमसे किसने कहा कि हम निमित्तों को नहीं मानते?"

"कोई एक कहता हो तो उसका नाम बतायें ?"

"अरे पगली ! जो ऐसा कहते हैं, वे स्वयं तो कभी हमारी बात ध्यान से सुनते नहीं। बस, दूसरों के कहने पर ऐसा कहने लगते हैं कि – हम निमित्तों को नहीं मानते।"

"वे दूसरे कौन हैं, जिनके कहने पर वे ऐसा कहते हैं ?"

"वे दूसरे भी कहाँ सुनते हैं हमें ?" – निजानन्द ने कहा।

"अजी ! छोड़ो भी उन्हें, उनकी बातें वे जाने। हमें तो आप ही बताइये कि – आप निमित्तों को मानते हैं या नहीं ?"

निजानन्द ने कहा – "हाँ, हाँ; हम निमित्तों को मानते हैं पर हम उन्हें मात्र निमित्त मानते हैं; हम निमित्तों को पर के कार्य का कर्त्ता नहीं मानते। हम ही क्या पूरा जिनागम इसका साक्षी है। हम निमित्तों के कर्तृत्व का निषेध करते हैं और कुछ लोग हमारे इस कथन पर

ध्यान न देकर या जानबूझकर हमें निमित्तों का ही निषेधक मान बैठे हैं।" – निजानन्द ने सफाई पेश की।

सरला ने कहा – "चलो ठीक है, यह विषय भी समझने योग्य है। इसे भी समझना ही है। पर अभी आप जो यह कह रहे थे कि - आज चतुर्दशी है, जो ज्योतिष के अनुसार रिक्ता तिथि है; किन्तु आप यह क्यों भूल रहे हैं कि – आज शनिवार भी तो है।"

निजानन्द ने कहा – "हाँ, शनिवार है; परन्तु क्या शनिवार होने से रिक्ता तिथि रिक्ता तिथि नहीं रहती ?"

सरला ने कहा – "हाँ, हाँ; बात कुछ ऐसी ही है। शनिवार के साथ ये तिथियाँ शतगुणी शुभ फलदायक हो जाती हैं। क्या आपने ज्योतिषशास्त्र की यह किम्वदन्ती नहीं सुनी ? –

'चौथ नौमी चतुर्दशी, जो शनिवार परन्त।
एक काज के करत ही, सौ-सौ काज सरन्त ॥'

अतः हम आज से ही स्वाध्याय का मंगल कार्य प्रारम्भ कर सकते हैं।" – सरला ने कहा।

निजानन्द ने सोचा "अब सरला की भावभूमि तत्त्वज्ञान का बीज डालने योग्य तैयार हो गई है। उसके क्षयोपक्षमज्ञान में भी पात्रता पक गई, उसे वस्तुस्वरूप जानने की जिज्ञासा जागृत हो गई है एवं कषायों में मन्दता भी आई है। अतः क्यों न आज से ही स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया जाय ?"

उसने कहा "बहुत अच्छा ! लो, आज से हो अभी रात्रि आठ से नौ बजे तक अपने स्वाध्याय का काम प्रारंभ कर लेते हैं। बोलो, अभी किस विषय की चर्चा प्रारम्भ की जाय ?"

"जैनदर्शन में जो जीवन को सफल, सार्थक और सुखी करने में सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक सिद्धान्त हो, उसी विषय से अपना स्वाध्याय प्रारम्भ करें।" – सरला ने कहा। •

सात

"वस्तुस्वातन्त्र्य किसी धर्मविशेष या दर्शनविशेष की मात्र मानसिक उपज या किसी व्यक्ति विशेष का वैचारिक विकल्प मात्र नहीं है। बल्कि यह सम्पूर्ण भौतिक एवं जैविक जगत की अनादि-अनन्त स्व-सञ्चालित सृष्टि का स्वरूप है, ऑटोमेटिक विश्व-व्यवस्था है।

इस जगत में जितने चेतन व अचेतन पदार्थ हैं, जीव-अजीव द्रव्य हैं; वे सब पूर्ण स्वतन्त्र हैं, स्वावलम्बी हैं। उनका एक-एक समय का परिणमन भी पूर्ण स्वाधीन है।"

यह सोचते-विचारते निजानन्द इस उलझन में उलझ गया कि यह सत्य तथ्य लोगों को कैसे समझाया जाए ?

जो किसी न किसी रूप में भी ईश्वरीय कर्तृत्व में आस्था रखते हैं, यह बात उनके गले उतारना आसान नहीं है; क्योंकि जनसाधारण की जन्मजात श्रद्धा बदलना सरल नहीं होता। ईश्वरवादियों की तो बात ही दूर; जो ईश्वरवादी नहीं हैं, वे भी अनादिकालीन अज्ञान के कारण पर में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्त्व के संस्कारों के कारण पर के कर्त्ता-धर्त्ता बने बैठे हैं। उन्हें भी यह सिद्धान्त समझाना टेढ़ी खीर है।

जनसाधारण की तो बात ही क्या ? दर्शनशास्त्र के धुरन्धर विद्वान भी अपने पूर्वाग्रहों के व्यामोह से इस तथ्य को स्वीकार करने में किन्तु/परन्तु करने से नहीं चूकते

और यह सत्य तथ्य समझे बिना धर्म का फल पाना तो दूर, धर्म का अंकुर भी नहीं उगता।

रात्रिकालीन तत्त्वगोष्ठी प्रारम्भ करते हुए निजानन्द ने कहा – "देखो, सरला! वस्तुस्वातन्त्र्य जैनदर्शन का ऐसा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि जिसके बिना जैनधर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती।"

"ऐसी क्या बात है इसमें ? मैंने तो आजतक इसका नाम भी नहीं सुना। आज पहली बार आपके मुँह से यह शब्द सुन रही हूँ।" – सरला ने कहा।

"अरे ! गज़ब हो गया ! क्या तुम कभी वीतराग-विज्ञान पाठशाला में पढ़ने नहीं गईं ?"

"क्या बात करते हो ? मेरी मम्मी तो मुझे सुबह देवदर्शन के बिना, जिनमन्दिर जाए बिना नाश्ता ही नहीं देती थी और शाम को पाठशाला जाए बिना रात में चैन से सोने भी नहीं देती थी। मैं कक्षा पाँच से कक्षा दस तक – छह वर्ष तक नियमित रूप से रात्रिकालीन कन्या पाठशाला में धर्म पढ़ी हूँ। वहाँ धर्म विशारद तक तो मैंने परीक्षाएँ भी दीं हैं। तत्त्वार्थसूत्र और भक्तामर तो मुझे अभी भी कंठस्थ याद हैं; परन्तु यह वस्तुस्वातन्त्र्य ..... ?"

"यह तो बहुत ही अच्छी बात है, जो तुम्हारी मम्मी ने तुम्हें धर्म के संस्कार देने में इतनी जागरूकता रखी। इसके बिना तो बालक-बालिकाओं में धर्म के संस्कार ही नहीं पड़ते; परन्तु आश्चर्यजनक यह है कि छह वर्ष तक जैनदर्शन पढ़ने पर भी तुम्हें वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त समझ में नहीं आया।"

"अजी ! जब यह पाठ हमारी पाठ्यपुस्तक में ही नहीं था तो हम पढ़ती कहाँ से ? और हमारी अध्यापिकायें भी क्या पढ़ातीं? वे बेचारीं पाठ्यविषय से बाहर का विषय पढ़ाती भी कैसे ?"

"अरे, सरला ! यह कैसे हो सकता है कि यह विषय पाठ्यक्रम में न हो ? यह तो जैनदर्शन का मूलभूत विषय है। इसकी उपेक्षा तो कोई कर ही नहीं सकता।"

"आपका सोचना सच हो सकता है; पर मैं जो कह रही हूँ वह भी गलत नहीं है। जो मेरे द्वारा स्वयं पढ़ा हुआ पाठ्यक्रम है, उसमें भी आपको विश्वास नहीं हो रहा है ? अरे ! मैं यह प्रत्यक्ष देखी-जानी बात कह रही हूँ। हाथ कंगन को आरसी क्या ? आप स्वंय ही देख लें उस पाठ्यक्रम को।"

"ठीक है, देख लेंगे, हम भी देख लेंगे, पर पहले तो तुम यह बताओ ! तुम्हारी पाठ्यपुस्तक में छह द्रव्यों का पाठ है या नहीं ? तुमने तत्त्वार्थसूत्र में 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' और 'सत्द्रव्य लक्षणम्' सूत्र पढ़े थे या नहीं ?"

"हाँ, ये तो पढ़े थे। द्रव्यसंग्रह में छह द्रव्यों के स्वरूप और तत्त्वार्थसूत्र में ये दोनों सूत्र पढ़े थे। ये तो मुझे अभी भी याद हैं; परन्तु यह सब पूछकर आप कहना क्या चाहते हैं ? इनसे तुम्हारे वस्तुस्वातन्त्र्य का क्या सम्बन्ध है ?"

"क्या कहा ? इनसे वस्तुस्वातन्त्र्य सिद्धान्त का क्या सम्बन्ध ? अरे ! इन छह द्रव्यों को ही तो वस्तुत्व गुण की अपेक्षा वस्तु कहते हैं। और वस्तु की स्वतन्त्रता को ही वस्तुस्वातन्त्र्य कहते हैं।"

"यह वस्तुत्व गुण क्या है और इसका वस्तु स्वतन्त्रता से क्या तात्पर्य है ?"

"ओह ! समझ गया ..... सम्भवतः तुम्हारे पाठ्यक्रम में सामान्य गुणों का पाठ नहीं होगा ? अस्तुः सुनो ! प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण होते हैं – एक सामान्य और दूसरा विशेष। जो गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्य गुण कहते हैं। जैसे –

अस्तित्व गुण सब द्रव्यों में पाया जाता है। अतः यह सामान्य गुण हुआ। यह वस्तुत्वगुण भी उन्हीं सामान्य गुणों में से एक गुण है तथा जो गुण सब द्रव्यों में न रहकर अपने-अपने द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। जैसे – ज्ञान, दर्शन गुण केवल आत्मा में ही होते हैं, अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य में नहीं। अतः ये जीव द्रव्य के विशेष गुण हैं। इसीतरह पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श; धर्म द्रव्य में गति हेतुत्व, अधर्म द्रव्य में स्थिति हेतुत्व, आकाश द्रव्य में अवगाहन हेतुत्व और कालद्रव्य में परिणमन हेतुत्व – इनके विशेष गुण हैं।"

सरला ने उत्साहित होकर कहा – "अजी, ये विशेष गुण तो द्रव्यों की परिभाषाओं में भी आ गए; पर सामान्य गुण सचमुच मेरे पढ़ने में कहीं नहीं आए थे। अतः उन्हें समझाइये। वे कितने हैं एवं कौन-कौनसे हैं ? उनका क्या कार्य है ? और उनके जानने से क्या लाभ है ?"

निजानन्द ने समझाया – "वैसे तो प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, सामान्य गुण भी अनेक हैं; परन्तु उनमें छह मुख्य हैं – अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व।

जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी भी अभाव नहीं होता, उसे अस्तित्व गुण कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में यह अस्तित्व गुण है, अतः प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वयं से है, उसे किसी ने बनाया नहीं, और न कोई उसे मिटा सकता है; क्योंकि वह अनादि-अनन्त है।

इसी अस्तित्व गुण की अपेक्षा से ही तो द्रव्य का लक्षण सत् किया जाता है। जैसा कि तुमने सूत्र जी में पढ़ा है सत् द्रव्य लक्षणम्। देखो ! सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। मात्र पर्याय पलटती है।

इस अस्तित्व गुण के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से जीव मृत्युभय

से तो मुक्त हो ही जाता है, कर्त्ताबुद्धि के अगणित दोषों से भी बच जाता है।"

"और वस्तुत्व गुण ..... ?" – सरला ने जिज्ञासा से पूछा।

निजानन्द ने सरलता को समझाया – **"जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रिया हो, प्रयोजनभूत क्रिया हो; उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं।** इस गुण की मुख्यता से ही द्रव्य को वस्तु कहते हैं। लोक में प्रत्येक वस्तु अपने-अपने प्रयोजन से युक्त है। कोई भी वस्तु अपने आप में निरर्थक नहीं है और पर के किसी भी प्रयोजन की नहीं है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के सहयोग की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सभी वस्तुओं में अपना-अपना स्वतन्त्र वस्तुत्व गुण विद्यमान है।"

"अरे ! इन सामान्य गुणों में तो वस्तुस्वातन्त्र्य के बीज स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।" – सरला ने कहा।

"हाँ, बात तो कुछ ऐसी ही है, पर पहले शेष सामान्य गुणों को भी संक्षेप में समझ लें। हो सकता है उन शेष गुणों को समझने से वे स्वतन्त्रता के बीज अन्कुरित होते दिख जाएँ।

हाँ, तो सुनो। तीसरा सामान्य गुण है – द्रव्यत्व गुण –**जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं।** इसी की मुख्यता से वस्तुओं को द्रव्यसंज्ञा प्राप्त है।

इस गुण की प्रमुख विशेषता यह है कि – परद्रव्य के सहयोग की अपेक्षा बिना ही यह गुण वस्तु को स्वतन्त्र रूप से निरन्तर परिणमनशील रखता है। अतः एक द्रव्य में होने वाले सतत् परिवर्तन का कारण कोई अन्य द्रव्य नहीं है। किसी भी द्रव्य को अपने परिणमन में किसी अन्य द्रव्य या गुण की आवश्यकता नहीं है।"

वाह ! यह गुण भी वस्तु की स्वतन्त्रता ही बताता है। इस तरह तो अस्तित्व, वस्तुत्व और द्रव्यत्व गुणों से भी वस्तु की

स्वतन्त्रता की ही पुष्टि हो रही है। क्या प्रमेयत्व गुण भी .....?"

निजानन्द ने कहा – "हाँ, हाँ; यह प्रमेयत्व गुण भी बहुत महत्त्वपूर्ण है – **जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बने, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।**

इस गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अवश्य ही जाना जा सकता है। जगत में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो अज्ञात रहे; क्योंकि उसमें प्रमेयत्व गुण जो है। यह बात जुदी है कि हमारे स्थूल क्षयोपशम ज्ञान में सूक्ष्म द्रव्य हमें अभी ज्ञात न हो रहे हों।"

"यह क्षयोपशमज्ञान क्या है ?" – विनीता बीच में बोली।

"अल्प विकसित ज्ञान को क्षयोपशमज्ञान कहते हैं। क्षयोपशम की परिभाषा तो तुमने तत्त्वार्थसूत्र में पढ़ी ही होगी ?

आत्मा भी एक वस्तु है, उसमें भी प्रमेयत्व गुण है, अतः वह भी जाना जा सकता है। बस; थोड़ा सा पर व पर्याय पर से उपयोग हटाकर आत्मा की ओर अन्तर्मुख करने की देर है कि समझ लो आत्मा का दर्शन हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया।"

"आप यह क्या कह रहे हैं ? क्या सम्यग्दर्शन होना इतना सरल है ? लोग तो यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होना बहुत कठिन है, अति दुर्लभ है; क्योंकि आत्मा बहुत सूक्ष्म है न !

"कौन लोग हैं वे, जो ऐसा कहते हैं ? आत्मा कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, उसमें प्रमेयत्व गुण है न ? लोगों की क्या, जो मन में आया कह दिया। तुम तो यह देखो कि आगम क्या कहता है, आचार्य क्या कहते हैं ? जिसमें प्रमेयत्व गुण है, वह भले सूक्ष्म हो तो भी ज्ञान की पकड़ में आता ही है। अतः अज्ञानी लोगों की बातों में न आकर आगम जो कहे, वह करो।"

"ठीक है, वैसा ही करूँगी। हाँ, अगुरुलघुत्व गुण का स्वरूप एवं कार्य भी बता ही दो। समय तो हो गया पर ..... ।"

"ठीक है, सुनो ! **जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपन कायम रहता है, एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता और द्रव्य में रहनेवाले अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं होते, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।"**

इन गुणों का स्वरूप सुनकर-समझकर सरला गद्‌गद् हो गई और उसके मुँह से निकला – "वाह ! यह गुण भी गज़ब का गुण है। यह द्रव्यों और गुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व को सुरक्षित रखता है, द्रव्य का द्रव्यत्व और प्रत्येक गुण के स्वतन्त्र स्वरूप को कायम रखता है। सचमुच लोक की यह वस्तु व्यवस्था भी बड़ी विचित्र है ! सभी द्रव्यों में ये सामान्य गुण विद्यमान हैं जो वस्तु के स्वतन्त्र और स्वावलम्बी होने का उद्‌घोष कर रहे हैं।"

"और प्रदेशत्व गुण का क्या स्वरूप है?" – सरला ने पूछा।

"जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है, उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं।"

"काश ! सब जीवों को इनका ऐसा यथार्थ ज्ञान हो जावे तो उनका अनन्त पराधीनता का दुःख दूर हुए बिना नहीं रहे; परन्तु सब जीवों की तो बात ही दूर, अभी तो सब जैनों को ही इनका यथार्थ ज्ञान नहीं है। इसका सही ज्ञान होने पर हम परद्रव्यों के कर्तृत्व की चिन्ता से सदा के लिए मुक्त हो सकते हैं।

यद्यपि अपने में ऐसी कोई योग्यता नहीं है कि पर में कुछ किया जा सके; परन्तु यदि किसी की भली होनहार हो तो निमित्त तो बन ही सकते हैं; अतः भूमिका के विकल्पानुसार प्रयत्न करने में हानि भी क्या है ?"

सभी ने सरला के इन उत्कृष्ट विचारों और पावन भावना का समर्थन तो किया ही, उसे धन्यवाद भी दिया। इससे सरला का उत्साह द्विगुणित हो गया। •

आठ

"जिसप्रकार भूमि को कृषि के योग्य – उपजाऊ बनाये बिना बीज बोना निष्फल है, बीज की बर्बादी ही है; उसीप्रकार पञ्चलब्धियों से आत्मा की भूमि को सम्यक्त्व धारण के योग्य बनाये बिना धर्म के बीज बोने का प्रयत्न निष्फल है, समय व शक्ति की बर्बादी है।

यदि आत्मा के बाग को सचमुच समता-समाधि रूप मधुर फलों से फूलता-फलता देखने की हार्दिक भावना है तो पञ्चलब्धियों द्वारा आत्मा की भूमि की विशुद्धि अनिवार्य है।

आत्मा की भूमि में अल्पज्ञता की घास-फूस और तीव्रकषाय के कंकड़-पत्थरों के रहते धर्मोपदेश के महँगे बीज कैसे बोये जा सकते हैं ? और धर्म के बीज बोये बिना सम्यक्त्वरूप धर्मवृक्ष की कल्पना भी कैसे की जा सकती है ?"

निजानन्द के ये विचार सुनकर सरला को जिज्ञासा जगी। वह सोच-विचार में पड़ गई कि – "ये पञ्चलब्धियाँ क्या हैं, जिनके बिना जीवन का खेत बञ्जर ही बना रहता है। जीवन रूपी खेत में धर्म के ब्रीज बोना बीज की बर्बादी है अर्थात् धर्म के साधन जुटाना साधनों को निष्फल करना है; क्योंकि वे सम्यक्त्व के साधनरूप बीज धर्मवृक्ष के रूप में फूलेंगे-फलेंगे ही नहीं। अतः इन्हें तो जानना/पहचानना एवं प्राप्त करना ही होगा।"

इस संकल्प के साथ सरला ने कहा – "उन पाँच लब्धियों को तो समझाना ही होगा, जिनके सब्जबाग दिखाकर आपने जिज्ञासा जगा दी है।"

निजानन्द ने कहा – "सरला ! लब्धियों को प्राप्त करने की आकुलता एवं चिन्ता नहीं है; क्योंकि तीन लब्धियाँ तो तुम्हें बिना जाने ही सहज उपलब्ध हो चुकीं हैं।"

सरला ने आश्चर्य से पूछा – "वे कैसे ?"

निजानन्द ने कहा – "सम्यक्त्व के प्रगट होने के पूर्व क्रमशः क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि व करणलब्धि होना अनिवार्य है। इनमें आदि की चार लब्धियाँ तो सामान्य हैं। ये लब्धियाँ भव्यों के तो हो ही जातीं हैं, अभव्यों को भी हो जातीं हैं; परन्तु इन चारों के होने पर भी सम्यक्त्व होने का कोई नियम नहीं है; जब करणलब्धि होती है, तब ही सम्यक्त्व होता है।

लब्धि का सामान्य स्वरूप इसप्रकार है –

सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य अन्तर्बाह्य अनुकूल सामग्री की प्राप्ति होना ही लब्धि है। ये पाँच हैं, अतः इन्हें पञ्चलब्धि कहते हैं। इनमें क्षयोपशम, विशुद्धि एवं देशना – ये तीन लब्धियाँ तो हमें तुम्हें भी प्राप्त हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य, देव, नारकी एवं तिर्यञ्च को आत्मा का स्वरूप समझने योग्य जो ज्ञान का क्षयोपशम है, बस वही **क्षयोपशमलब्धि** है। परिणामों की ऐसी निर्मलता एवं कषायों की ऐसी मन्दता, जिसमें जिनवाणी सुनने की रुचि हो, वह **विशुद्धिलब्धि** है तथा जिनवाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त होना **देशनालब्धि** है।

सरला ने पूछा – "अजी, हम जैसे अनादि मिथ्यादृष्टि

जीवों को अथवा जिन्हें कभी सम्यग्दर्शन होकर छूट गया हो, उन्हें भी यदि पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो तो उसकी प्राथमिक पात्रता क्या है ? हम लोगों में वह पात्रता है या नहीं ?"

"अरे सरला ! तुम तो इस मामले में बहुत भाग्यवान हो; क्योंकि तुम्हें तो यह मनुष्य पर्याय, पैनी बुद्धि, कषायों की मन्दता और ऐसा सत्समागम, उत्तम कुल और जिनवाणी की सत्य बात सुनने-समझने का परम सौभाग्य – सब कुछ एक साथ प्राप्त हो गया है; यदि तुम्हें ही सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकेगा तो फिर और किसे होगा ?"

"अजी, आप यह क्या कह रहे हैं ! हमने तो सुना है, यह बहुत दुर्लभ है, विरलों को ही होता है ?"

"पर उन विरलों में तुम्हारा नाम भी तो हो सकता है। जरा सन्सार की ओर देखो तो सही। कितनी अनन्तानन्त जीव राशि ऐसी है जो अभी तक त्रस पर्याय में ही नहीं आ पाई है।

सर्वश्रेष्ठ मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, सुसंगति और श्रावक कुल जो दुर्लभ है, वहाँ तक तो तुम आ ही गई हो। अतः तुम तो निश्चिन्त होकर अपनी इसी दिशा में आगे बढ़ती रहो। तुम्हें सम्यग्दर्शन स्वयं आकर वरण करेगा। तुम्हें उसके पास नहीं जाना, वही तुम्हारी पर्याय में प्रगट होगा। **अरे ! तुम तो वह हो, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है। वह तुम्हारे दर्शन करके कृतार्थ होगा। बस, तुम्हें तो मात्र स्वयं को जानना, स्वयं को पहचानना और स्वयं में ही जमना-रमना है। तुम्हें इसके सिवाय और कुछ करना ही नहीं है।"**

"आपका यह कहना सच है कि सम्यग्दर्शन पर्याय ही द्रव्यस्वभाव का वरण करेगी, द्रव्य को कुछ नहीं करना है, जो कुछ करेगी वह पर्याय ही करेगी; परन्तु द्रव्य में वैसी पात्रता भी तो

हो, तभी न वह पर्याय द्रव्य को वरण करेगी ?

जैसे कि लोक में वर को कुछ भी भाग-दौड़ नहीं करनी होती है, कन्या पक्ष ही भाग-दौड़ करता है; पर वर में वैसी पात्रता होती है, तभी न कन्या पक्ष भाग-दौड़ करता है !

अतः मेरा प्रश्न यह है कि उस सम्यक्त्व पर्याय को प्रगट करने की जीव की पात्रता कैसी होती है ?

"देखो ! सम्यग्दर्शन की पात्रता के लिये मात्र यही तो कहा है कि – चारों गतियों का कोई भी जीव, जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो, गर्भज हो, पर्याप्तक हो, भव्य हो, मन्दकषायरूप विशुद्धता का धारक हो, साकार उपयोगी हो, निद्रारहित जागृत हो – ऐसा भद्र मिथ्यादृष्टि, चाहे वह अनादि मिथ्यादृष्टि हो या सादि। जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना लब्धियों द्वारा अपने परिणामों की निर्मलता बढ़ाते हुए परिणामों में विशुद्धि की वृद्धि को प्राप्त होता है, तब प्रायोग्यलब्धि की पात्रता प्राप्त करता है। इस प्रायोग्यलब्धि से क्रमशः कर्मों की स्थिति को घटाते-घटाते अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण कर लेता है तथा मिथ्यात्व की अनुभाग शक्ति भी घटा लेता है। पश्चात् आत्मसन्मुख परिणामों द्वारा करणलब्धि प्राप्तकर तीनों करणों के बाद दर्शनमोह के अन्तरकरण रूप उपशम काल के प्रथम समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पहले समय में सत्ता में पड़े मिथ्यात्वकर्म के तीन टुकड़े हो जाते हैं।"

"अजी, यह करना तो पड़ेगा न ?"

"इसमें तुम्हें क्या करना है ? ये सब तो तुम्हें सहज ही उपलब्ध हैं न ? सम्यग्दर्शन के योग्य क्षयोपशम, विशुद्धि व देशना तो है ही। बस, इसी दिशा में सक्रिय रहने से प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि की शर्त भी समय पर स्वतः पूरी हो जाती है।"

"ठीक है, पर उन पाँच लब्धियों का सामान्य परिचय तो

कराइये। तभी तो इनके बारे में विशेष जानने की जिज्ञासा शान्त होगी और सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होगा।"

"सरला ! तुम्हारा कहना सही है, पर मैं तुम्हें इन लब्धियों की शास्त्रीय परिभाषाओं में नहीं उलझाना चाहता; क्योंकि वह करणानुयोग का ऐसा सूक्ष्म विषय है, जिसमें तुम्हारी गति विशेष नहीं है और वह तुम्हारे लिए विशेष प्रयोजनभूत भी नहीं है।

क्या तुमने अभी अभी सुना नहीं कि यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में होता है, तिर्यंचों को भी होता ही है; और जिन्हें भी होता है, उन्हें ये पाँचों लब्धियाँ भी होतीं ही हैं। भले वे इनका नाम, स्वरूप एवं परिभाषायें नहीं जानते, फिर भी उन्हें सम्यक्त्व प्राप्ति में कोई बाधा नहीं होती। बहुत से मनुष्य भी ऐसे हो सकते हैं, जो परिभाषायें नहीं बोल सकते; फिर भी सम्यग्दृष्टि होते हैं।"

सरला ने कहा – "यह ठीक है; परन्तु पाँचों लब्धियों का सामान्य परिचय तो करा ही दीजिए।"

निजानन्द ने परिभाषायें पढ़ाना प्रारम्भ किया –

"संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक होने के साथ संसारी जीव के प्रगट ज्ञान की ऐसी पात्रता, जिसमें आत्मा ज्ञेय बन सके, जिसमें सात तत्त्वों का स्वरूप समझने की योग्यता हो और सच्चे देव शास्त्र गुरु को सही पहचानने की पात्रता हो। बस, ऐसे ज्ञान की प्राप्ति ही क्षयोपशमलब्धि है।

शास्त्रीय शब्दों में कहें तो - - 'जिस काल में ज्ञानावरणादि कर्मों की सर्वघाती अप्रशस्त कर्मप्रकृतियों की अनुभाग शक्ति समय-समय अनन्त गुणी हीन होती जाये और उन घटे हुए सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय एवं आगे उदय में आने योग्य सर्वघाती स्पर्द्धकों का सत् अवस्था में उपशम तथा उस हीन होती हुई

अनुभाग शक्ति के भी अनन्तभाग रूप देशघाती स्पर्द्धकों का अनुक्रम से उदय में आने पर ज्ञान की जो निर्मल दशा होती है, उसे **क्षयोपशमलब्धि** कहते हैं।'

क्षयोपशमलब्धि के बाद वर्तमान परिणामों की ऐसी निर्मलता एवं कषाय की ऐसी मन्दता; जिसमें विषय-कषाय की प्रवृत्तियों को छोड़कर जिनवाणी सुनने की रुचि, जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को जानने एवं आत्मा को समझने एवं उसी को प्राप्त करने की लगन लग सके; वही विशुद्धिलब्धि है।

शास्त्रीय शब्दों में कहें तो – 'प्रतिसमय अनन्तगुण हीन क्रम से उदीरित अनुभाग से उत्पन्न क्षयोपशमलब्धि से अशुभ प्रकृतियों की हीनता तथा शुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारण साता आदि शुभकर्मों के बंध का निमित्तभूत और असाता आदि अशुभकर्मों के बन्ध के विरोधी जो जीव के निर्मल परिणाम हैं, उन्हें विशुद्धि कहते हैं। इस विशुद्धि की प्राप्ति का नाम **विशुद्धिलब्धि** है।'

देखो, विशुद्धि के बिना अर्थात् कषायों की मन्दता के बिना व्यक्ति समझने ही नहीं आयेगा। वह तीव्र कषायों के वशीभूत हुआ तत्त्वोपदेश के समय भी घर-परिवार के राग-रंग और विषयानुराग में ही उलझा रहेगा, और क्षयोपशमलब्धि के बिना अर्थात् उस जाति के ज्ञान के विकास बिना आत्मा और तत्त्वों की बातें समझ में ही नहीं आयेंगीं।

छह द्रव्यों और नव पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है और उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि होना तथा उनकी देशना द्वारा प्राप्त उपदिष्ट तत्त्वार्थों का अर्थ श्रोता को हृदयंगम होना देशनालब्धि है।

छह द्रव्यों और नौ पदार्थों का विषय बहुत व्यापक है, इसमें सम्पूर्ण जैनदर्शन आ जाता है। इन छह द्रव्यों का समूह ही विश्व

है, जो कि अनादि-अनन्त है, स्वतन्त्र है, स्व-संचालित है। इन छह द्रव्यों को ही **वस्तुत्व गुण** की अपेक्षा वस्तु कहते हैं।

इन सिद्धान्तों को सुनने का लाभ इस देशना लब्धि के अन्तर्गत आता है; परन्तु श्रोता अनेक प्रकार के होते हैं –

एक, वे जो देशना को सुनते तो हैं, पर मात्र सुनकर ही छोड़ देते हैं और अपने दूसरे कामों में लग जाते हैं। इसकारण सुना हुआ विषय उनकी धारणा में नहीं रहता।

दूसरे, कुछ श्रोता ऐसे होते हैं, जो ध्यान से सुन लेते हैं, धारणा में भी ले लेते हैं; परन्तु सुने हुये उपदेश पर विचार पूर्वक निर्णय ही नहीं करते। यदि करते भी हैं तो निर्णय करते समय निष्पक्ष नहीं रह पाते।

तीसरे, वे; जिन्हें जिस विचार से सच्चा निर्णय हो सकता है वह विचार मिथ्यात्व के जोर के कारण हो नहीं सकता। जिसका पक्षपात है, वही सच लगता है।

इन सबने जो तत्त्वोपदेश सुना, वह देशना तो हो सकती है; पर देशनालब्धि नहीं; क्योंकि वह देशना मात्र देशना बनकर ही रह गई, उपादान में तत्त्वज्ञान की कुछ भी उपलब्धि नहीं हो पाई। जब उपादान में कुछ नहीं हुआ तो वह देशना निमित्त भी कहाँ बन पाई ? जब अन्तरंग उपादान में कुछ तत्त्वज्ञान का लाभ हो तब बाह्य कारण को निमित्त कहा जा सकता है। देशना परद्रव्य का परिणाम होने से निमित्त रूप होती है और देशनालब्धि उपादान में होती है और यह तत्त्वज्ञान की प्राप्तिरूप आत्मा के परिणाम का नाम है।

देखो सरला ! यह भी जानना जरूरी है कि कौनसी देशना सम्यग्दर्शन में निमित्त होती है ? देशना का विषय तो बहुत व्यापक

है; पर वह सभी विषय देशनालब्धि नहीं बनता। प्रयोजनभूत बात को न केवल सुनना; बल्कि उसे समझना, उसपर विचार करना **देशनालब्धि** है।

देशनालब्धि से जीव के विचार इतने विशुद्ध हो जाते हैं कि उसकी विशुद्धि से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति कुछ हीन हो जाती है और नवीन कर्मों का बन्ध उत्तरोत्तर कम-कम स्थिति का होने लगता है। ऐसी धारा में **प्रायोग्यलब्धि** का अभ्युदय होता है।

जिनको क्षयोपशम, विशुद्धि व देशना – ये तीन लब्धियाँ प्राप्त हो जातीं हैं, उनको प्रतिसमय विशुद्धता की वृद्धि होने से आयुकर्म के बिना सात कर्मों की स्थिति घटती जाती है। इस तरह जब पूर्व कर्मों की सत्ता अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बन्ध अन्त:कोड़ाकोड़ी प्रमाण के संख्यातवें भाग मात्र हो, वह भी उस लब्धि काल से लगाकर क्रमश: घटता जाये और कितनी ही पाप प्रकृतियों का बन्ध क्रमश: मिटता जाये – इत्यादि प्रकार से जो कर्मों के क्षीण होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उसे प्रायोग्यलब्धि कहते हैं।

पाँचवीं लब्धि करणलब्धि है। इसके होने पर सम्यग्दर्शन होता ही है – ऐसा नियम है। जिसको पहले उपर्युक्त चार लब्धियाँ हुईं हों और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सम्यक्त्व होना हो, उसी के यह **करणलब्धि** होती है।

'करण' नाम तो परिणामों का है। क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना एवं प्रायोग्यलब्धि के कारण बढ़ते हुए आत्मा के जिन विशुद्ध परिणामों के द्वारा दर्शनमोह का उपशम होता है, वह विशेष परिणाम 'करण' कहा जाता है। इस करणलब्धिवाले जीव के बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। इससे

तत्त्वोपदेश का विचार ऐसा निर्मल होने लगता है कि जिससे उसको शीघ्र ही आत्मा का सम्यक् श्रद्धान हो जायेगा। इन परिणामों का तारतम्य तो केवलज्ञानगम्य है; फिर भी आगम के अनुसार यथासम्भव कहा गया है।

इस करणलब्धि के अन्तर्गत तीन करण होते हैं –

१. अधःप्रवृत्तकरण, २. अपूर्वकरण और ३. अनिवृत्तिकरण।

ये तीनों करण अन्तर्मुहूर्त में हो जाते हैं। प्रत्येक करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। इनमें अनिवृत्तिकरण का काल सबसे थोड़ा है। अनिवृत्तिकरण के काल से अपूर्वकरण का काल असंख्यात गुणा अधिक है। अपूर्वकरण के काल से अधःप्रवृत्तकरण का काल असंख्यात गुणा अधिक है।

ये करण प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पूर्व मिथ्यादृष्टि को भी होते हैं और कषायों के उपशमन व क्षपणा के लिये सातवें गुणस्थान से लेकर आठवें, नौवें गुणस्थान में भी होते हैं।

इन 'करणों' में परिणाम विशुद्ध से विशुद्धतर वर्द्धमान होते रहते हैं। उन परिणामों के काल में अनेक ऐसे परिणाम होते हैं, जिनसे अनेक घातक कर्म प्रकृतियों का बल क्षीण हो जाता है।

बस, इन सबका निष्कर्ष मात्र इतना है कि – यह तीन-तीन लब्धियाँ प्राप्त करने का सु-अवसर तो हमें प्राप्त हो ही गया है, करणलब्धि भी अपने आत्माभिमुख पुरुषार्थ से हो सकती है; अतः इसमें शिथिलता न आने पाये, अन्यथा यह दुर्लभ मनुष्य भव एवं तीनों लब्धियों की उपलब्धि निरर्थक ही चली जायेगी।"

नौ

अपनों के साथ जैसा अपनापन अपने स्वाभाविक व्यवहार और मातृभाषा बोलने में आता है; अपने बड़े-बूढ़े और बाल-बच्चों के बीच उन्हीं की टोन में, उन्हीं के लहजे में बातचीत करने में आता है, उनके सुख-दुःख में साथ देने एवं घर के काम-काज में हाथ बटाने में आता है; वह अपनत्व बनावटी व्यवहार में, कोरी औपचारिकता निभाने में और खिचड़ी बोली बोलने में कहाँ ?

पर अपने आप को एजूकेटेड और अपटूडेट समझने वालीं पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित कुछ कॉलेजी लड़कियाँ और काम-काजी महिलायें अपने घर-परिवार और पड़ौस में भी अपनी अलग-थलग पहचान बनाने के लिए अपनी मातृभाषा में न बोलकर, सीधी-सादी हिन्दी न बोलकर बीच-बीच में अनावश्यक अंग्रेजी के शब्द मिलाकर हिन्दी की चिन्दी तो करतीं ही हैं, बड़ी-बूढ़ी घरेलू महिलाओं के साथ घर के काम-काज में हाथ बटाने में हीन भावना का भी अनुभव करती हैं। भले गप-शप लड़ाने में घण्टों बर्बाद करती रहेंगीं, पर घरेलू काम करने में समय की बर्बादी समझती हैं। आधुनिकता के व्यामोह में वे यह नहीं समझ पातीं कि ऐसा आचरण करके हम अनचाहे ही अपनों के बीच में रहकर भी भावनात्मक रूप में उनसे दूर होतीं जा रहीं हैं।

पर, सरला ऐसी नहीं थी। यद्यपि वह स्नातक थी, अनेक कलाओं में निपुण थी, जन्म से ही बौद्धिक प्रतिभा सम्पन्न थी,

देखने में भी सामान्य सुन्दर सुडौल और आकर्षक व्यक्तित्व की धनी थी; फिर भी वह अपने घर में अपनों के बीच सबसे मिल-जुलकर रहती, पानी में नमक की भाँति एक-मेक होकर रहती। क्या बोलने-चालने में, उठने-बैठने में, क्या पहनने-ओढ़ने में और घर के काम-काज करने में सबकी भावनाओं का ध्यान रखती एवं सबका सहयोग करती। छोटे-मोटे सभी कामों में सबका हाथ बटा लेती। किसी अन्य व्यस्तता वश कभी घर के काम न भी कर पाये, पर काम की फिकर जरूर रखती। मौके-मौके पर काम की फिकर का जिकर भी जरूर करती। इसतरह वह जबतक पीहर में रही, सबकी सहानुभूति तो बटोर ही रही।

अपने अध्ययनकालीन कालेज के जीवन में भी वह कभी रसोई में जा खड़ी होती और कहती – "मम्मी ! तूने सबको गरम-गरम खाना खिलाया। अब मैं तुझे गरम-गरम और नरम-नरम पराठें बनाकर खिलाऊँगी। तू खाना खाने बैठ ! मैं पराठें सेंक कर लाती हूँ।"

कभी बाथरूम में जाकर कहती – "चाची ! तुम नहालो और भोजन करो, तुम्हें बहुत देर हो गई, शेष कपड़े मैं धो लेती हूँ।"

कभी दादी के हाथ से बुहारी छुड़ा लेती और कहती – "दादी ! तुम भी खूब ! क्या अब तुम्हारे यह काम करने के दिन हैं? मन्दिर जाओ प्रवचन प्रारम्भ हो गया होगा। मैं बुहारी लगा लूँगी।"

सरला के लिए सभी का लगभग समान उत्तर होता था – "बेटी ! तुझे कॉलेज जाना है, कॉलेज का काम करना है, तू जल्दी खाना खा और अपना काम देख ! यह सब तो होता ही रहेगा।"

"ठीक है, ठीक है खा लूँगी, पर ..... ।"

"पर-पर ..... क्या करती है, कह दिया न ! चल यहाँ से अपना काम देख ! अरे ! यह काम तो तुझे जिन्दगी भर करना ही

है, सो करना। अभी तुझे पढ़ाई करना है। ये बूढ़े हाड़ और किस काम आयेंगे ? थोड़े हिलते-डुलते रहेंगे तो दूसरों का मुँहताज नहीं होना पड़ेगा; अन्यथा टट्टी-पेशाब को भी तरस जायेंगे हम।"

सरला कहती – "अरे ! तरस कैसे जाओगी दादी ! हम जो हैं, हम क्या करेंगे ? बड़े-बूढ़ों की सेवा करने से बढ़कर और क्या काम हो सकता है सन्तानों के लिए ? तुम परवाह न करो..."

"ठीक है बेटा ! तेरी भावना उत्तम है; पर तू यहाँ कबतक बैठी रहेगी हमारी सेवा के लिए ! तू हमारी सेवा में लगी रहेगी तो तेरी सासू माँ की सेवा करने क्या देवी-देवता आयेंगे ? अरे ! एक दिन तेरा भी तो अपना अलग सन्सार बसेगा न ?"

सरला लजा जाती और 'धत्' कहकर वहाँ से चली जाती।

गैंद को दीवाल पर जितने जोर से फेंको, वह उतनी ही गति से लौटकर अपने हाथ में आ जाती है।

सरला ने जितनी ताकत लगाकर घर के काम-काज में हाथ बटाने का प्रयत्न किया, उसी ताकत से सबने उसे घर के काम-काज में उलझने से मना कर दिया। किसी ने उसे घरेलू काम को हाथ भी नहीं लगाने दिया। परन्तु यह उसके काम के प्रति उत्साह का ही सु-फल था कि वह सबकी स्नेह पात्र बनी रही थी।

यदि वह सबसे घुल-मिलकर नहीं रहती, घर के किसी काम को हाथ न लगाती, घर-गृहस्थी के काम में हाथ बटाने का मानस ही न बनाती तो नियम से उसे सभी से सहानुभूति के बदले यह उपदेश सुनने को मिलता – **'लड़कियाँ पराया धन होतीं हैं। इन्हें थोड़ा–बहुत घर–गृहस्थी का काम भी तो सीखना ही चाहिए। दिन–रात पुस्तकों से ही चिपकी रहतीं हैं। यह भी कोई पढ़ाई है ? अरे ! लड़कियों को तो चौका–चूल्हे का काम पढ़ाई से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। क्या ससुराल में जाकर वहाँ रोज–रोज होटल से**

खाना मंगायेंगी ? जब वहाँ ये कठनाइयाँ आयेंगीं, तब बैठकर हमारे नाम को रोयेगीं। ससुराल में खुद भी बदनाम होंगीं और हमें भी बदनाम करेंगीं।'

परन्तु सरला उन लड़कियों में नहीं थी। वह परिजनों के इस मनोविज्ञान से भी अपरिचित नहीं थी। अतः उसने पहले कौमार्य काल में पीहर में ही अन्य कलाओं के साथ पाक कला में भी निपुणता प्राप्त कर ली थी। उसे पारिवारिक जीवन जीने की कला भी भली-भाँति आती थी। वह जानती थी कि – **'घर–परिवार की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता सम्भव है। जिस घर में कलह और क्लेश की ज्वाला जलती रहती हो, उसमें हम बिना झुलसे कैसे रह सकते हैं?'** यह सोचकर वह प्रारम्भ से ही हर तरह से शान्तिमय वातावरण बनाने के लिए ही प्रयत्नशील रहा करती थी; क्योंकि वह बचपन से ही बुद्धिमान जो थी, अतः इतनी समझ उसमें तब भी थी।

* * *

सरला प्रातः उठकर परमात्मा का स्मरण करने के बाद सबसे पहले सासू माँ के चरण स्पर्श कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करती। भोजन के समय गरम-गरम फुलके बनाकर स्नेह से भोजन कराती, रात में सोने से पूर्व सासू माँ के घुटनों को तेल लगाकर ही सोती। समय-समय पर दवायें भी खिला देती।

यद्यपि इस सम्पूर्ण सेवा में उसका चौबीस घण्टो में मुश्किल से आधा-एक घण्टा ही लगता होगा, पर इतनी सी सेवा से ही सासू माँ ऐसी गद्-गद् हो जाती कि सारे दिन सरला के ही गीत गाया करती।

"बहू हो तो ऐसी हो, बहू क्या है साक्षात् देवी है देवी। मेरा भाग्य देखो ! मैं कितनी भाग्यवान हूँ। किस शुभ मुहूर्त में हुआ होगा इसका जनम ? माता–पिता ने भी खूब संस्कार दिए। धन्य है वह कूंख, धन्य है वह गोद, जिसमें यह जन्मी और पली–पुसी है।

भगवान ! वे माता-पिता सुखी रहें। बहू भी दूधो नहाये पूतो फले। दिन भर अपने काम में व्यस्त रहती, फिर भी मेरी सेवा को समय निकाल ही लेती। भगवान ! सबको ऐसी ही बहुयें मिलें।"

सरला के मधुर व्यवहार और सेवा भाव से न केवल उसकी सास ही प्रसन्न थी, उसके परिजन-पुरजन, पड़ौसी और मुहल्ले वाले भी खुश थे; क्योंकि वह समय-समय पर उनके सुख-दुःख में भी सहभागी बन जाती।

अपने इस विवेक पूर्ण व्यवहार से वह पीहर में तो सदैव सबके हृदयों का हार बनी ही रही, ससुराल में भी वह घर-परिवार और पास-पड़ौस के हृदयों में बस गई है। उसके ससुराल चले जाने पर पीहर वालों को तो ऐसा लगा मानो सारा मौहल्ला ही सूना हो गया है। इसी विशेषता से ससुराल में भी उसने बहुत ही जल्दी लोगों के हृदयों में अपना स्थान बना लिया था। सभी उसे चाहने लगे थे, उसके शुभचिन्तक हो गए थे। •

दस

"वस्तुस्वातन्त्र्य जैनदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है, यह जैनदर्शन के सिवाय अन्यत्र कहीं/किसी दर्शन में नहीं है। वस्तुत: यह जैनदर्शन का प्राण है। यदि यह नहीं होता तो जैनदर्शन ही नहीं होता। लौकिक अनुकूल/प्रतिकूल प्रसंगों में तो यह शान्तिदायक है ही, पारलौकिक दृष्टि से भी यह वीतरागता वर्द्धक है, धर्म का साक्षात् साधन है।"

निजानन्द के ये वाक्य सरला के कानों में गूँज रहे थे। इन्हें याद कर-कर के वह भारी प्रसन्न थी। उसका मनमयूर तो नाच ही रहा था, वाणी में भी वाह ! वाह !! के शब्द उसकी हार्दिक प्रसन्नता को प्रगट कर रहे थे। उसकी प्रसन्नता मानो मन में समा नहीं रही थी।

परन्तु यह प्रसन्नता तो सरला की क्षणिक नारी सुलभ सरलता और भावुकता का परिणाम थी। जब उसने इस सिद्धान्त को दैनिक जीवन के लौकिक कार्यों के प्रसंग में सोचना प्रारम्भ किया तो वह ज्यों-ज्यों सोचती, त्यों-त्यों शंकाओं-आशंकाओं के घेरे में घिरती ही जाती। उसका मन-मस्तिष्क नाना प्रश्नों के जञ्जाल में उलझता जाता। वह अपने आपको ज्यों-ज्यों सुलझाने की कोशिश करती, त्यों-त्यों और अधिक उलझती जाती।

उसके सामने सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी कि – "यदि इस सिद्धान्त को भगवान की वाणी मानकर मान भी लिया जाए तो फिर 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' माननेवालों में और परीक्षाप्रधानियों में

अन्तर ही क्या रहेगा ? जबकि स्वामी समन्तभद्राचार्य ने तो बिना परीक्षा किए सर्वज्ञदेव तक को भी नमस्कार नहीं किया। और भी सभी आचार्यों ने स्वयं तो प्रयोजनभूत पदार्थों की परीक्षा करके स्वीकार किया हो, अपने शिष्यों को भी यही आदेश, उपदेश और प्रेरणा दी। अतः सुने एवं पढ़े हुए विषयों पर ऊहापोह तो करना ही चाहिए न ! सही समाधान हुए बिना मान लेना तो मूर्खता ही होगी। अतः क्यों न गोष्ठी में ही इस विषय पर ऊहापोह किया जाय ?"

सरला के सामने दूसरी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि "यदि इस वस्तुस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तो फिर हमारे पुरुषार्थ का क्या होगा ?"

सोचते-विचारते सरला के मानस पटल पर निजानन्द की एक-एक बात उभरने लगी – "गोष्ठी में निजानन्द ने कहा था कि – प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणाम का कर्त्ता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने प्रवचनसार गाथा १८० का हवाला देकर भी कहा था कि – अपने भाव को करता हुआ आत्मा अपने भाव का ही कर्त्ता होता है, पुद्गल द्रव्य के भावों का कर्त्ता नहीं।

उन्होंने यह भी तो कहा था कि –

जैनदर्शन न केवल जन-जन की स्वतन्त्रता की बात कहता है, बल्कि यह तो कण-कण की स्वतन्त्रता का उद्घोष करता है।

इसके प्रमाण में उन्होंने एक नहीं अनेक शास्त्राधार भी प्रस्तुत किए थे। समयसार कलश ५३ एंव ५४ और गाथा १०३ प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था –

'जो दो वस्तुयें हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेद वाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होतीं, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करतीं और उनकी एक क्रिया नहीं होती। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाये।'

'एक द्रव्य के दो कर्त्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते। तथा एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होतीं; क्योंकि एक द्रव्य अनेकरूप नहीं होता।'

'जो वस्तु जिस द्रव्य के रूप में और गुण के रूप में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य के रूप में तथा अन्य गुण के रूप में संक्रमित नहीं होती। और स्वयं अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तु का परिणमन कैसे करा सकती है?'

कोई एक बात हो तो ठीक; परन्तु उन्होंने तो वस्तुस्वातन्त्र्य की सिद्धि में शास्त्रों के और भी अनेक उद्धरण दे-देकर समझाया था। सो उस समय तो ऐसा लगा मानो सब समझ में आ रहा है। उनके समझाने का ढंग ही कुछ ऐसा सरल, सटीक और तार्किक है कि उस समय कोई शंका ही नहीं रहती; परन्तु ..... ।

हाँ, उन्होंने समयसार का २०० वाँ कलश सुनाकर यह भी तो कहा था –

'नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः पर द्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः।।

परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसप्रकार जहाँ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध ही नहीं, वहाँ आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है?'

निःसंदेह यद्यपि उनका एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य सही है; क्योंकि अधिकांश तो वे शास्त्राधार से ही बोलते हैं। अपनी ओर से भी जो कुछ कहते हैं, वह भी शास्त्र की बात का खुलासा करने के लिए कहते हैं; परन्तु अपने चित्त को भी तो स्वीकृत होना चाहिए न?

मुझे कोई बताये तो सही कि यदि सचमुच एकद्रव्य दूसरे

द्रव्य में कुछ नहीं करता, परमाणु-परमाणु स्वतन्त्र है तो पीली हल्दी चूने के श्वेत रंग को लाल क्यों कर देती है ? वे दोनों मिलकर लाल कैसे हो जाते हैं ?"

इन विचारों में डूबे रहने के कारण यद्यपि सरला को आधीरात बीत जाने पर भी नींद नहीं आ रही थी, फिर भी वह आँखें बन्द करके सोने का प्रयत्न करने लगी और सोचते-सोचते पता नहीं वह कब सो गई।

सोते हुए वह स्वप्न देखती है कि – "निजानन्द उससे कह रहे हैं कि "अरे, सरला ! यह तो बहुत अच्छी बात है कि तुम गोष्ठी में चर्चित विषय को यों ही नहीं छोड़ देती। याद कर-करके बारम्बार दुहराती हो, उस पर खूब ऊहापोह करती हो; परन्तु इतना अधिक परेशान न हुआ करो कि नींद ही हराम हो जाए। यह एक-दो दिन का काम तो है नहीं; यह तो रोज का काम है। यदि समझ नहीं आया तो अगले दिन फिर उसी पर चर्चा कर लिया करो। कौन रोकता है तुम्हें ! यह गोष्ठी खास तौर पर तुम्हारे लिए ही चल रही समझो।

यह जो तुम्हारा प्रश्न है कि – चूना व हल्दी मिलकर लाल कैसे हो जाते हैं ? उसका समाधान यह है कि –

हमारी स्थूल दृष्टि में जो दो पदार्थ एक-दूसरे पर कुछ प्रभाव, असर डालते या एक-दूसरे का कार्य करते दिखाई देते हैं, उनमें वास्तविकता कुछ और ही होती है। उदाहरणार्थ – हल्दी और चूना को ही ले लें। दूर से देखने में ऐसा ही प्रतीत होता है कि दोनों मिलकर लाल हुये हैं, परन्तु वस्तुतः बात यह है कि – दोनों अपनी-अपनी स्वतन्त्र स्व-चतुष्टय की योग्यता से ही परिणमित हुये हैं, एक-दूसरे के कारण नहीं। दोनों में ही अपनी-अपनी स्वतन्त्र स्वभावगत ऐसी योग्यता है।

यद्यपि वे दोनों एक दूसरे के संयोग से लाल हुये दिखाई देते हैं, तथापि वे दोनों अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता से ही लाल हुये हैं, न कि एक-दूसरे के कारण। उन दोनों का ऐसा ही सहज स्वतन्त्र मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उनमें कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

यदि चूने में या हल्दी में ऐसी कर्तृत्व शक्ति हो तो हल्दी खड़िया को लाल क्यों नहीं कर पाती ? या चूने की भाँति ही श्वेत खड़िया हल्दी को लाल क्यों नहीं कर पाती ? अतः स्पष्ट है कि – दोनों अपने-अपने उपादान की योग्यता से ही लाल रूप परिणमित होते हैं, एक-दूसरे के लिए तो वे मात्र निमित्त हैं, कर्त्ता नहीं।

देखो सरला ! यदि कोई सूक्ष्म बात समझ में न भी आये तो घबराने की बात नहीं है। जिनागम के अनुसार सत्य तथ्य या धर्म का मर्म तो मात्र इतना है कि – **यह आत्मा चैतन्य चिन्तामणि रत्न है। जैसे-चिन्तामणि रत्न को चिन्तामणि रत्न के रूप में ही सदैव रहने के लिये नया कुछ करना नहीं पड़ता, उसमें कुछ मिलाना या उसमें से कुछ हटाना-निकालना नहीं पड़ता; ठीक उसी भाँति चैतन्य चिन्तामणि आत्मा को आत्मा के रूप में ही सदैव रहने के लिये नया कुछ नहीं करना पड़ता। आत्मा अपने आप में एक ऐसा परिपूर्ण पदार्थ है, जिसे पूर्ण सुखी रहने के लिये कुछ भी नहीं करना पड़ता।**

जैसे बहुमूल्य मणियों की माला मात्र देखने-जानने और आनन्द लेने की वस्तु है; बस उसीतरह यह आत्मा अमूल्य चैतन्य चिन्तामणि है। बस, इसे जानते-देखते रहो और आनन्द लेते रहो। मात्र यही करना है, इसके सिवाय कुछ नहीं करना है। यही आत्मा का स्वरूप है, काम है और यही आत्मा का धर्म है।

कुछ भी करने/कराने के विकल्प होना तो अधर्म है; क्योंकि उन विकल्पों में आकुलता है, दुःख है।

अरहन्त और सिद्ध भगवान जो करते हैं, बस वही हमें करना है; जो वे नहीं करते, वह हमें भी नहीं करना। वे हमारे आदर्श हैं। स्वभाव से उनमें और हममें कोई अन्तर नहीं है। कहा भी है –

'ममस्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख-ज्ञान निधान।।'

अरहन्त व सिद्ध भगवान वर्तमान में क्या करते हैं ? कुछ भी नहीं; क्योंकि वे कृतकृत्य हैं। उन्हीं की तरह हमें-तुम्हें भी कुछ नहीं करना; क्योंकि हमारा आत्मा भी स्वभाव से कृतकृत्य ही है।"

"अजी, आपने अरहन्त व सिद्ध भगवान और अपने आत्मा को समान बताया तथा उन्हीं को आदर्श मानकर उन जैसा ही ज्ञाता-द्रष्टा रहने की प्रेरणा दी। उस सन्दर्भ में मेरा कहना यह है कि - अरहन्त भगवान तो हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं, उन्हीं की तरह मैं भी यदि हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाऊँ तो बाल-बच्चों का क्या होगा ? बाल-बच्चों की बात जाने दो, परन्तु, जब आप ही डाइनिंग टेबल पर आकर बैठ जाओगे तो बिना कुछ किए यह ज्ञाता-द्रष्टा भगवान आत्मा आपको भी क्या परोस देगा ?"

"तुम्हारी समझ के अनुसार कहना तो तुम्हारा ठीक ही है; परन्तु ध्यान रखो ! हमने अपने स्वभाव को अरहन्त जैसा बताया है, न कि वर्तमान पर्याय को। वर्तमान पर्याय में जो अन्तर बताया है, उसे क्यों भूल रही हो ?

जहाँ **'मम स्वरूप है सिद्ध समान'** कहा है, वहीं अगली पंक्ति में यह भी तो कहा है कि -

'अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग मैं राग वितान।'

जिनवाणी के अनुसार वस्तु स्वरूप की पूर्ण और अटल श्रद्धा होने पर भी जो जिस भूमिका में है, उसे उस जाति के विकल्प आये बिना नहीं रहते। यदि हम गृहस्थ हैं, किसी के माता-पिता हैं

तो बाल-बच्चों के पालन-पोषण, पढ़ाने-लिखाने, योग्य मार्गदर्शन देने का भाव आये बिना नहीं रहता। भले हमें वस्तुस्वातन्त्र्य और उनके पुण्य-पाप पर पूर्ण भरोसा है। जैसा जिनागम में लिखा है, उसके प्रति पाषाण रेखवत् अटूट विश्वास है, फिर भी पर्याय का स्वरूप ही ऐसा है कि – उस जाति के न केवल विकल्प आयेंगे; बल्कि ज्ञानी भी अज्ञानी की भाँति ही लड़-भिड़ कर और सन्घर्ष करके अपने उन विकल्पों को पूरा करने की कोशिश भी करेंगे।

यही कारण है कि वस्तुस्वातन्त्र्य पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाले ज्ञानियों की गृहस्थी बिगड़ती नहीं; बल्कि भूमिका का यथार्थ विवेक होने से उनकी मति तो व्यवस्थित हो ही जाती है तथा गृहस्थी भी और अधिक व्यवस्थित हो जाती है। अतः तुम हमारे भूखे रहने की या बाल-बच्चों की व्यवस्था बिगड़ने की चिन्ता मत करो। भूमिका का यथार्थ ज्ञान होने पर यह व्यवस्था तो स्वतः बन जाएगी; तुम तो तत्त्वाभ्यास करो।"

"तत्त्व का अभ्यास करो, वस्तु स्वरूप की यथार्थ समझ करो, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहो' – इन वाक्यों से तो मात्र जानने-जानने की ही प्रेरणा प्राप्त होती है, कुछ धरम-करम करने की बात तो आप कहते ही नहीं। मात्र जानने-जानने से क्या होगा ? क्या धर्मात्मा बनने के लिये कुछ करना नहीं पड़ेगा ?"

"अग्नि को उष्ण रहने के लिये, बर्फ को ठण्डा रहने के लिये, हवा को प्रवाहित होने के लिये जो करना पड़ता है, वही आत्मा को धर्मात्मा बनने के लिये करना पड़ता है।

अरे ! भागवान ! धर्म तो आत्मा का स्वरूप है, निजरूप है, जो सहज ही होता है। धर्म करने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता; बल्कि जो कुछ अज्ञान दशा में कर रहे हैं; उल्टा उसे बन्द करना पड़ता है। वस्तुतः धर्म कुछ करने/कराने की वस्तु ही नहीं है।

तुम स्वयं सोचो – अनुशासन-प्रशासन के लिए क्रोध तो कभी-कभी करना पड़ता है, **पर शान्त रहने के लिये क्या करना पड़ता है?** कुछ भी नहीं। व्यक्ति शान्त तो जीवन भर रह सकता है; पर क्रोध लगातार आधा घण्टा भी नहीं कर सकता; क्योंकि शान्त रहना स्वभाव है और क्रोध करना विभाव। **जीव विभाव में सदा नहीं रह सकता।"**

स्वप्न में किए गए निजानन्द के इस मार्मिक उद्‌बोधन और सहानुभूति पूर्ण सद्व्यवहार से सरला का सरल हृदय अपने पति निजानन्द के प्रति कृतज्ञता की भावना से भर गया।

यद्यपि इतने में ही उसकी नींद तो खुल गई; परन्तु उसका वह समाधान कारक सुखद स्वप्न अन्य स्वप्नों की भाँति विस्मृत नहीं हुआ। वह अब भी उसकी स्मृति पटल पर ज्यों का त्यों अंकित है। एक-एक बात प्रत्यक्षवत् दिखाई दे रही है और वह अपनी शंकाओं का समाधान पाकर हर्ष विभोर होकर गुनगुना रही है –

स्वप्न बहुत से देखे मैंने, पर –
वस्तुस्वातन्त्रय समझने जैसा, अनुपम स्वप्न कभी नहिं देखा।

वस्तुतः स्वप्न और कुछ नहीं, दिन भर जिस बारे में अपना जैसा अच्छा-बुरा सोच चलता रहता है, वही धीरे-धीरे अवचेतन मन में पहुँच जाता है और जब सोते समय मन मस्तिष्क तनाव मुक्त शिथिल हो जाता है तो वही अवचेतन मन की बातें स्वप्न में साकार होने लगतीं हैं और धीरे-धीरे वह सब विषय संस्कार बनकर जनम-जनम के साथी बन जाते हैं। अतः **हम दिन में सजग अवस्था में जितने अच्छे विचार रखेंगे उतने ही अच्छे स्वप्न हमें आयेंगे, जो कालान्तर में अच्छे संस्कारों में परिणत होकर हमारे कल्याण में कारण बनेंगे।**

●

ग्यारह

अज्ञानजन्य भय-चिन्ता-शोक-विषाद आदि मनोविकार और कल्पित कर्तृत्व का कार्यभार ही मूलतः सुख के शत्रु हैं; क्योंकि ये स्वयं तो मानसिक रूप से दुःखद हैं ही; इनके कारण हुए तनाव से हार्ट अटैक जैसी अनेक शारीरिक व्याधियाँ भी हो जातीं हैं।

जब व्यक्ति अनादि-अनन्त स्व-संचालित विश्व-व्यवस्था और वस्तुस्वरूप समझकर सब ओर से निश्चिन्त, निर्भय, निर्भार और शोकमुक्त हो जाता है तो स्वभावतः वह प्रसन्न रहने लगता है। यह प्रसन्नता व्यक्ति के सुखी जीवन के लिए बहुत बड़ा वरदान बनकर आती है। फिर वह न केवल मानसिक व्याधियों से मुक्त हो जाता है, दैहिक दुःखों से भी उसे बहुत कुछ छुटकारा मिल जाता है। फिर तो उसे ऐसा लगता है मानो खुशियों का खजाना ही मिल गया हो।

सौभाग्य से यदि वह व्यक्ति घर का मुखिया हुआ, परिवार का प्रमुख व्यक्ति हुआ, तब तो फिर पूछना ही क्या है ? फिर तो घर-परिवार की प्रसन्नता में चार चाँद लग जाते हैं।

सरला को ही देख लो न ! यह विश्व-व्यवस्था और वस्तुस्वातन्त्र्य का स्वरूप समझ में आ जाने से वह कैसी प्रसन्न रहने लगी ? उसका गुलाब के फूल सा खिला चेहरा देख उसके बेटा-बेटी स्वानुभव एवं स्वानुभूति भी प्रसन्न रहने लगे और अब वे घर में ही सर्वाधिक समय बिताने लगे।

जो अबतक मम्मी के लाल-पीले एवं उदास मुखमण्डल

को देख उससे दूर-दूर ही रहते थे, अधिकतम समय बाहर ही बिताते थे; रात में भी देर से आते और दादी के पास चुपचाप सो जाते थे; वे ही बच्चे अब मम्मी का पल्लू ही नहीं छोड़ते। मम्मी से लाड़-प्यार भरी भाषा में बोलते हैं, मीठी-मीठी बातें करते हैं।

बच्चों को अपने निकट और प्रसन्न देख मम्मी भी फूली नहीं समाती। मानो अब पूरे परिवार का पाँसा ही पलट गया था।

* * *

घर के बदले हुए वातावरण को देख निजानन्द भी बहुत प्रसन्न रहने लगा। निजानन्द को सबसे अधिक प्रसन्नता इस बात की हुई कि – वह अबतक सरला से यह कह-कह कर थक गया था कि सरला ! तुमसे जितना काम बने, उतना करो। जो काम बने, वह करो; जो न बने, वह मत करो; पर प्रसन्न रहो ! परन्तु प्रसन्न रहने के लिए उसे जिस मानसिक खुराक की जरूरत थी, वह अबतक उसे यहाँ ससुराल में उपलब्ध नहीं थी। यहाँ कोई उसके कार्यों को देख वाह-वाह करनेवाला नहीं था, वाह-वाही देनेवाला नहीं था।

सरला को बचपन में सदाचार सम्बन्धी धार्मिक संस्कार तो मिले थे; परन्तु तत्त्वज्ञान से वह सर्वथा शून्य थी। तीक्ष्णबुद्धि होने से उसे बाल्यकाल में प्रत्येक काम में प्रशन्सा ही प्रशन्सा मिलती, जो ससुराल में सम्भव नहीं हो सकी। अबतक यही उसके मानसिक दुःख का ऐसा अज्ञात कारण बन रहा था, जिसे वह स्वयं भी नहीं समझ पाई थी।

प्रारम्भ में ससुराल में उसको काम से उतनी परेशानी नहीं थी, जितनी काम के कर्तृत्व का श्रेय न मिलने से होती थी। उसमें कर्तृत्वबुद्धि का 'अहं' बहुत था और अपने काम की वाहवाही सुनने की भूख भी बहुत थी।

निजानन्द प्रथम तो, प्रारम्भ में उसकी इस मानसिकता को समझ ही नहीं सका। दूसरे, उसके मन-मस्तिष्क पर वस्तुस्वातन्त्र्य सिद्धान्त की धुन ऐसी सवार थी, इतनी अधिक हावी थी कि उसे जब भी थोड़ा-बहुत अवसर मिलता तो उसे यही विकल्प आता कि– काश! यह सिद्धान्त लोगों के गले उतर जाता तो सारे क्लेश मिट जाते और आनन्द आ जाता। अतः वह इस ही की चर्चा छेड़ देता।

निजानन्द की उस सैद्धान्तिक चर्चा से स्वाध्यायी जीवन के शुरुआत में सरला को ऐसा लगता कि ये मुझे सुना-सुनाकर मेरे लक्ष्य से कहा जा रहा है; अतः वह सोचती – "मैं काम कर-कर के मरी जा रही हूँ, उस सम्बन्ध में प्रशन्सा के दो शब्द सुनने को तो कभी मिले नहीं होंगे, वह सब तो भाड़ में गया; ऊपर से यह उपदेश सुनने को मिल रहा है कि – 'तू तो कुछ करती ही नहीं है यह सब काम-काज तो ऑटोमेटिक हो रहा है। जो होनेवाला है वही हो रहा है। जो जिस क्षण होनेवाला होता है, वह उसी क्षण में होता ही है।'

मतलब यह कि मैंने कुछ नहीं किया! जो, जैसा, जिस क्षण, जिसके द्वारा, जिस प्रयत्न पूर्वक होना था; वही हुआ। इनके कहे अनुसार मैं तो बे-वकूफ ही हूँ न! जो अपने धरम-करम को भी ताक में रखकर दिन-रात इन घरेलू कामों में पिली रहती हूँ!"

सरला को परेशान और बात-बात में क्रोध में आगबबूला होता देख निजानन्द समझता कि यह काम से परेशान है। अतः वह कहता – "अरे, सरला! मैंने तुमसे कितने बार कहा कि 'तुम सीधा-सादा भोजन बना लिया करो! न बनाओ ऐसे आइटम, जिनमें समय व शक्ति बर्बाद होती है और वे भी मात्र मेरे लिए! तुम्हें स्वयं खाने का शौक नहीं, बच्चे भी खाते नहीं। अरे! इस चौका-चूल्हे से

जितनी जल्दी छुट्टी मिले, वही काम करो न ! परन्तु यह बात तुम्हारी समझ में न अबतक आई है और न शायद कभी आयेगी !"

यह सब सुनकर सरला को और भी अधिक झुँझलाहट होती। वह बोलती कुछ नहीं; पर कड़वा ज़हर का घूँट सा निगलकर चुप रह जाती।

वास्तविक बात यह है कि – अज्ञानजन्य कर्त्ताबुद्धि जिनके अन्तर में गहरे से बैठी हो, उन्हें अपने कर्तृत्व के बदले में और कुछ न मिले तो न सही; पर ढ़ेर सारा धन्यवाद और प्रशन्सा तो मिलनी ही चाहिए। ऐसे लोग पैसे से अधिक प्रशन्सा के भूखे होते हैं। न जाने लोग इसमें क जूसी क्यों करते हैं ? पैसे से पेट की भूख तो मिट जाती है; पर साथ ही मानसिक खुराक के लिए प्रशन्सा प्राप्त होना भी अनिवार्य है।

पाश्चात्य संस्कृति में तो 'थैंक्स' की बीमारी यहाँ तक फैली हुई है कि – यदि बेटा बाप को एक गिलास पानी लाकर देता है तो पिता का कर्त्तव्य है कि वह बेटे को धन्यवाद दे, थैंक्स बोले; अन्यथा वह पिता उसकी दृष्टि में अव्यवहारिक है।

जो व्यक्ति इस मनोविज्ञान को पहचानते हैं, यद्यपि वे इस प्रशन्सा या थैंक्स के महामन्त्र से व्यक्तियों के दिलों को जीत लेते हैं; परन्तु यह सुखी जीवन जीने का सही व स्थाई उपाय नहीं है; क्योंकि कर्तृत्व के 'अहं' में उनकी सम्मान पाने की अपेक्षायें इतनी अधिक बढ़ जातीं हैं कि कुछ समय बाद वह प्रशन्सा का महामन्त्र भी बे-असर हो जाता है।

वस्तुतः वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ही एक ऐसा उपाय है, जो कर्त्तृत्व के 'अहं' को समाप्त कर सकता है।

सरला को उस समय तत्त्वज्ञान तो था ही नहीं; यह विवेक भी नहीं था कि – अब वह ऐसी छोटी बच्ची नहीं है, जिसकी

बात-बात में प्रशन्सा की जाय। परन्तु जो अपनी आदत से मजबूर होते हैं, वे स्वयं भी दुःखी होते हैं और दूसरों को भी परेशानी में डालते रहते हैं। सरला के साथ भी अबतक यही हुआ; क्योंकि उसे भी प्रशन्सा सुनने का व्यसन सा हो गया था।

निजानन्द एवं उसकी माँ से सरला की उन अज्ञात आकांक्षाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं हो सकी, जो उसके अवचेतन मन में गहरीं बैठ गईं थीं। वे समझ भी नहीं पाये थे कि सरला हम से क्या अपेक्षा रखती है, क्या चाहती है ? सरला स्वयं भी नहीं जानती थी कि – वह इतनी परेशान क्यों है ? बस उसे कुछ खोया-खोया सा जरूर लगता था। निजानन्द अब इतना धन सम्पन्न तो हो ही गया था कि भौतिकदृष्टि से कुछ कमी नहीं रही थी। भौतिकदृष्टि से सुखी होने के सब साधन-सुविधायें तो उपलब्ध थीं ही।

निजानन्द सरला को प्रसन्न रहने की प्रेरणा तो बहुत देता, सबकुछ बाह्य अनुकूलतायें उपलब्ध कराने में भी कसर नहीं छोड़ता; पर ऐसे समझाने से क्या होनेवाला था ? जबतक उसे मानपोषक मानसिक खुराक नहीं मिले, तबतक वह तनाव रहित कैसे हो सकती थी ? कभी कदाचित् पुण्य के योग से, यशस्कीर्ति के उदय से प्रशन्सा की ठण्डी हवा का मनभावन झकोरा आ भी जाय तो उससे क्षणिक राहत तो मिल सकती है; परन्तु यह सुखी होने का सच्चा उपाय नहीं है। अन्ततोगत्वा, वस्तुस्वरूप की समझ ही सुख-शान्ति का सही उपाय है; इसके बिना जीवन सुखी नहीं हो सकता।

सरला पर ससुराल में ज्यों-ज्यों काम का बोझ बढ़ा तथा प्रशन्सा के बदले प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष समझौता और समन्वय करना पड़ा, उनके समाने झुकना पड़ा; त्यों-त्यों वह

भयातुर-चिन्तित और परेशान रहने लगी थी। इसीकारण माथे का भंयकर दर्द और माथे में चक्करों का नया चक्कर भी चालू हो गया था। फलस्वरूप बात-बात में चिड़-चिड़ाहट होने लगी। परिवार पर उमड़े क्रोध के बादल बच्चों पर बरसने लगे थे। इसकारण बच्चे भी दूर-दूर भागने लगे थे। भाग्य का यह चक्कर महीने-दो महीने नहीं; बरसों चला।

इन सब परिस्थितियों से निजानन्द के सुख का सन्सार ही दुःखद वातावरण में बदल गया था। अभी तक उसने सन्सार के ऐसे दुःखद स्वरूप को केवल पुस्तकों में ही पढ़ा था; परन्तु अब तो उसने प्रत्यक्ष देख भी लिया था और भोग भी लिया था।

वह सोचता – "बचपन में तो सरला ऐसी नहीं थी। तब तो यह बहुत खुश मिजाज थी। अब इसे क्या हो गया है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि – तब इसके ऊपर काम का कोई बोझा तो था नहीं; पीहरवाले इसे घर के काम में हाथ भी नहीं लगाने देते। यह वहाँ सबसे प्रशन्सा ही प्रशन्सा पाती। सम्भवतः इसी कारण प्रसन्न रहती हो ? क्यों न मैं भी ऐसा ही प्रयोग करके देखूँ ? सम्भव है सफलता मिल जाय !" उसने ऐसा प्रयास किया भी। इससे क्षणिक परिवर्तन तो प्रतीत हुआ; पर स्थाई लाभ नहीं हुआ।

* * *

यद्यपि सरला भी निजानन्द के कहे अनुसार प्रसन्न रहने की पूरी-पूरी कोशिश करती थी; परन्तु उस समय वह स्वयं नहीं समझ पाती थी कि – वह प्रसन्न क्यों नहीं रह पाती है ? उसे क्षण क्षण में मिर्गी के रोग की भाँति टेन्शन क्यों हो जाता है ? वह उदासी से क्यों घिर जाती है ? उसके मुख मण्डल पर एकदम क्रोध की रेखायें क्यों उभर आतीं हैं ?

कभी-कभी वह देवता सदृश अपने पूज्य पति निजानन्द

से भी सीधे मुँह बात क्यों नहीं करती ? वह मौन सा धारण क्यों कर लेती है ? बात-बात में झुँझलाने क्यों लगती है ?

जब सरला सामान्य हो जाती, तब वह सोचती – "सभी मुझे प्रसन्न देखना चाहते हैं, एतदर्थ वे अधिकांश मेरे मनोभावों को ध्यान में रखकर ही व्यवहार करते हैं; फिर भी मैं कैसी मूर्ख हूँ, जो बात-बात मैं अकड़ जाती हूँ। उल्टा-सीधा जबाब दे देती हूँ, उनकी सफेदी का लिहाज भी नहीं रख पाती ?

मेरी इस प्रवृत्ति और परिणति के कारण ही पूरे घर का बातावरण नरक बन जाता है, सभी परेशानी में पड़ जाते हैं। यहाँ तक कि – भोले-भाले दुध मुँहे बच्चे भी मुझ से दूर-दूर भागने लगते हैं।

यह विषाक्त वातावरण देख ये मुँह ढँक कर सो जाते हैं या बाहर निकल जाते हैं, बीमार सासू माँ बिस्तर पर पड़े-पड़े बड़बड़ाने लगती हैं।

कारण तलाशने पर मुझे स्वयं ही पता ही नहीं चलता, आखिर यह रंग में भंग क्यों हो जाता है ? बाहर में बहुत खोज-बीन करती हूँ तो अधिकांश तो 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया' वाली कहावत ही चरितार्थ होती।

यह समस्या कोई एक दिन की नहीं थी, आये दिन ऐसा हो जाता था। बहुत प्रयत्न किये कि – घर की बात घर तक ही सीमित रहे, चौराहों पर चर्चा का विषय न बने; अन्यथा न केवल हम बदनाम होंगे, हमारे साथ इनका तत्त्वज्ञान भी तो प्रभावित होगा।

यह कौन नहीं जानता कि 'दीवारों के भी कान होते हैं।' क्या पता कौनसी बात कब-कहाँ से-कैसे लीक हो जाये ? क्रोधावेश में यह विवेक भी नहीं रहता कि – 'हमारी यह आवाज आस-पास में – पड़ौस में भी पहुँच रही है !'

बात भले बड़ी न हो; पर अज्ञान दशा में बात का **बत्तंगड़** बनाना तो आम बात है।

मुझे जैसी आशंका थी, वही हुआ। चर्चायें चलने लगीं – श्री निजानन्दजी बड़े पण्डितजी बने फिरते हैं। दुनिया को समझाते हैं और घर में आज भी **दिया तले अन्धेरा** है। आखिर चक्कर क्या है .....?'

कोई कितना भी ज्ञानी हो, पर कमजोर भूमिका के कारण वातावरण से प्रभावित होना तो स्वाभाविक ही है। यह सब सुनकर ये भी परेशान हो जाते; परन्तु तत्त्वज्ञान के बल पर ये स्वयं को संभाल भी लेते। इसकारण बात विघटन तक नहीं पहुँच पाती।"

यह सब सोचते–विचारते सरला अतीत में खो गई। उसकी स्मृति पटल पर निजानन्द की वह हृदय विदारक बात उभरकर आ गई जिसमें निजानन्द ने उसे सहज एवं प्रसन्न चित्त देखकर मजाक के मूड में यह भी कह दिया था कि – "सरला ! यदि मुझे शादी के पहले यह ज्ञात हो जाती कि तुम इतनी तुनक मिजाज निकलोगी, बात-बात में अपना और मेरा मूड खराब करोगी, अज्ञात आशंकाओं और भय से भयाक्रान्त रहोगी, चिन्ताओं से चित्त आन्दोलित और चेहरा विकृत बनाकर रखोगी तो सचमुच मैं तुम से स्वप्न में भी शादी नहीं करता।

यदि मेरे मम्मी-पापा ने मुझे ये धार्मिक संस्कार नहीं दिये होते तो मैंने तुमसे कभी का तलाक ले लिया होता।"

"यद्यपि उनकी यह बात सुनकर मुझे उस समय बुरा तो बहुत लगा था; परन्तु साथ ही मुझे उनके हृदय की पीड़ा का भी गहरा अहसास हुआ। इस कारण मैं अपना दुःख तो भूल गई; पर उनके दुःख को देख पुनः दुःखी हो गई।"

तब इन्होंने कहा था – "सरला ! दुःखी होने की कोई बात

नहीं। मैने जो भी कहा, वह तुम्हारे मन को हल्का करने लिए मजाक में कहा था। मैं यह अच्छी तरह समझता हूँ कि जबतक अज्ञान और कषाय का चक्र चलेगा, तबतक यह सब स्वाभाविक ही है। मेरे जीवन में तुम नहीं आई होतीं तो तुम्हीं जैसी तुम्हारी ही कोई और बहिन होती; क्या गारन्टी थी कि वह तत्त्वज्ञानी होती ? तुममें तत्त्वज्ञान की विद्या न सही; पर बुद्धि तो है, समझ तो सकती हो ! बस, काफी है।"

उनकी यह बात सुनकर मैंने पूछा था – "किस अज्ञान की बात कह रहे हैं आप ? वह अज्ञान क्या है और कैसे मिटेगा ? आप मुझे बताइये। आप जो/जैसा करने को कहेंगे मैं वही करूँगी।"

मेरी जिज्ञासा और निवेदन सुनकर इन्होंने कहा था – "सरला ! तुम सब कार्यों को गौण करके दोनों समय गोष्ठी एवं कक्षा में नियमित पहुँचना प्रारम्भ करो। तत्त्वज्ञान ही एकमात्र सुखी होने का सच्चा उपाय है।"

बस, वह प्रेरणा काम कर गई और मैं गोष्ठी और कक्षाओं में नियमित जाने लगी।

इन्होंने भी मेरे ही लक्ष्य से सर्वप्रथम वस्तुस्वातन्त्र्य और उसके पोषक सिद्धान्तों को सरल शब्दों में समझाया। उन्हें सुनने, समझने और जीवन में उनका प्रयोग करने से मुझे जो सकून मिला, जो शान्ति, समता और निराकुलता का वेदन हुआ, उसे वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता।"

* * *

जब से सरला ने स्वाध्याय में प्रवचनों में और गोष्ठी में नियमित जाना प्रारम्भ किया, तब से तो उसका स्वभाव विल्कुल ही बदल गया। अब उससे कोई कुछ भी कहता रहे, वह मुस्कुराती ही रहती थी। अब तो उसके रहन-सहन का रवैया ही बदल गया था।

बस, अब तो उसे समय–समय पर यह विकल्प अवश्य परेशान करता – "काश ! हम सबका यह सुखी जीवन सासू माँ अपनी आँखों के सामने देख पातीं। जबतक वे रहीं तबतक मैं स्वयं सहज नहीं रह पायी। किसी न किसी कारण टेंशन में ही बनी रहीं। उन्होंने मेरा वह तनावग्रस्त जीवन ही देखा; जिससे वे दुःखी रहा करतीं थीं। वे चाहती थीं कि मैं इनकी तत्त्वगोष्ठियों में भाग लूँ और स्वयं तो तत्त्वज्ञान सीखूँ ही, बच्चों को भी धर्म में संस्कारित करूँ। उनकी यह भावना सफल तो हुई; पर कुछ देर हो गई। इसका मुझे जन्म भर अफसोस रहेगा।"

सरला के इस पश्चाताप का समाधान करते हुए निजानन्द ने उसे समझाया – "सरला ! जो होना है सो निश्चित है और जब होना है, वह भी निश्चित है। न हम किसी घटना को टाल सकते हैं, न आगे–पीछे ही कर सकते हैं, अतः अब पश्चाताप के आँसू बहाने से क्या ? बस प्रायश्चित ही काफी है, सो हो गया। अब भूतकाल के संकल्प–विकल्प छोड़ो। ये कमियाँ न होतीं तो हम इस दुःखद संसार में ही न होते। हमारे संसरण का कारण हमारी यें भूलें ही तो हैं।

जब तक हम अपने दुःखों के कारणों को, अपनी परेशानियों के कारणों को बाहर में खोजते रहेंगे, तबतक यही सब होगा।"

सन्सार का सुख-दुःख सदा एक जैसा नहीं रहता। यह बादलों की धूप-छाँव की तरह आता-जाता रहता है। सरला और निजानन्द के दाम्पत्य जीवन की बगिया, जो जिनवाणी के जल के अभाव में अबतक सूख रही थी, वह तत्त्वज्ञान के अमृतजल से सिंचित होकर पुनः सुगंधित फूलों से सुरभित हो महकने लगी थी।

•

बारह

"यद्यपि परलोक में विश्वास रखनेवाला प्रत्येक मानव अपने निजी जीवन को कुछ इसतरह जीना चाहता है कि उसका वर्तमान लौकिक जीवन तो सुख-समृद्धि से भरपूर और यशस्वी हो ही; पारलौकिक जीवन भी सुख-शान्ति से भरपूर हो। एतदर्थ उसे जो कुछ भी श्रम एवं समर्पण करना पड़े, वह करने को सदैव तत्पर रहता है। परन्तु 'ऐसा **सुखी जीवन जीने की कला** क्या है, जिससे लोक-परलोक - दोनों ही सुधरें ? ऐसा जीवन कैसे जिया जाय ? इसकी विधि क्या है ?' – इसका यथार्थज्ञान न होने से जिसप्रकार प्यासा मृग मृगमरीचिका में ही जल के भ्रम से इधर से उधर, उधर से इधर भटक-भटक कर प्राण खो देता है; उसीप्रकार यह मानव भी सच्चे सुख के भ्रम से सुखाभास में ही अपना अमूल्य मानव जीवन खो रहा है।" – निजानन्द ने सरला से कहा।

सरला बोली – "आपका कहना सच है; परन्तु मानव जीवन के निर्वाह की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिये धन-कन-कञ्चन आदि सभी वस्तुओं की जरूरत तो होती ही है ! एतदर्थ गृहस्थों को इनके संग्रह में भी तो उलझना ही पड़ता है न ?"

"हाँ, हाँ; ऐसे तो ज्ञानी भी सब करते ही हैं, इसमें कोई हानि भी नहीं है। हानि तो उन्हें होती है, जो सुख-समृद्धि और यश की प्राप्ति में धनादि को एवं उसके संग्रह में अपने कर्तृत्व को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी यह अवधारणा होती है कि-'**सर्वेगुणाः**

काञ्चनमाश्रयन्ति' अर्थात् सभी गुण धनवान में ही होते हैं।

ऐसी विचारधारा वाले न्याय-नीति की परवाह न करके येन-केन-प्रकारेण धन संग्रह में ही दिन-रात एक कर देते हैं; जबकि ये सब संयोग पुण्य-पाप के आधीन हैं, इस बात की उन्हें जरा भी समझ एवं श्रद्धा नहीं होती। ऐसे उत्कृष्ट पुण्य का योग धर्मात्माओं को ही होता है; क्योंकि वस्तुस्वरूप की सही समझ व श्रद्धा से सहज ही अन्तर की कषायें मन्द हो जातीं हैं; विषयासक्ति भी कम हो जाती है, अतः सर्वप्रथम हमें उन सिद्धान्तों को समझना होगा, जो समता एवं वीतरागता बढ़ाने में सहायक हों।

देखो सरला ! जिसतरह भी बने, एक बार वस्तुस्वरूप को जान लो, पहचान लो ! इसके लिए जीवन का बलिदान हो जाये तो भले हो जाए; पर वस्तुस्वरूप जानने में आ जाये। मरने की कीमत पर भी यदि वस्तुस्वरूप हाथ लग गया तो महंगा नहीं है। ध्यान रहे, वस्तुस्वरूप के ज्ञान में आत्मज्ञान ही मुख्य है।

सचमुच यह आत्मा चैतन्य चिन्तामणि रत्न है। हमें जड़ रत्नों की महिमा तो बहुत है; पर अब तक हमने चैतन्यरत्न की कदर नहीं की। यही हमारे दुःख का मूल है, बस यही हमारी मूल में भूल है।"

सरला ने पूछा – "हीरा, पन्ना, माणिक, मोती आदि और तो सभी तरह के रत्न देखे; पर यह चैतन्य चिन्तामणि रत्न आज तक देखने में नहीं आया। क्या आपने देखा कभी इसे ?"

"हाँ, हाँ; देखा है।" – निजानन्द ने सोत्साह उत्तर दिया।

"कहाँ देखा है ? क्या मुझे भी दिखाओगे ?"

"मैंने इसे आगम में लिखा देखा है। आचार्यों द्वारा चैतन्य चिन्तामणि के नाम से आत्मा के गीत गाते देखा है। बोलो, तुम्हें देखना है तो हम तुम्हें भी आगम में लिखा हुआ दिखा सकते हैं।

अनुभव की महिमा में कविवर बनारसीदास लिखते हैं –

'अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रस कूप ।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष स्वरूप ।।'

कविवर भूधरदास की धर्म भावना में भी चिन्तामणि रत्न का उल्लेख है –

'जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन ।
बिन जांचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन ।।'

इसी आगमोक्त चिन्तामणि रत्न के माध्यम से आत्मा के स्वरूप को समझाये जाने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है – जैसा कि पहले भी कह आये हैं कि – चिन्तामणि रत्न को चिन्तामणि रत्न के रूप में ही सदैव रहने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता; उसीतरह चैतन्यचिन्तामणि आत्मा को शुद्ध आत्मस्वरूप में रहने के लिए कुछ नहीं करना पड़ता।

जिसप्रकार मणियों की माला मात्र देखने, पहिनने और आनन्द लेने की वस्तु है; उसीतरह यह भगवान आत्मा अमूल्य चैतन्यचिन्तामणि, केवल स्वयं को जानने देखने, स्वयं में जमने रमने और अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति करने योग्य परम पदार्थ है। बस, इसे ही जानते रहो और आनन्द लेते रहो।

बस, हमें तुम्हें एवं सभी सुखार्थियों को एकमात्र यही करने योग्य है; इसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करना है। आत्मा में स्वयं का या पर का कुछ भी करने/कराने का विकल्प होना आत्मा के अकर्तृत्वस्वभाव के विरुद्ध होने से अधर्म है। तथा पर व पर्याय के कर्तृत्व के विकल्पों में आकुलता है, दुःख है और जिनागम के अनुसार धर्म तो वस्तु का स्वरूप है। आत्मा भी एक वस्तु है, जिसका स्वभाव पूर्ण निराकुल, स्वाधीन एवं सुखमय है।

देखो, सरला ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि जैनधर्म के

अनुसार व्यक्ति या वस्तु की स्वतन्त्रता न केवल जन्मसिद्ध अधिकार है; बल्कि अनादि-सिद्ध अधिकार है। अपनी उस स्वाभाविक स्वाधीनता को न पहिचानकर यह आत्मा अनादि काल से परसन्मुख हो, पराधीन हुआ दुख भोग रहा है। जबकि इस आत्मा की स्वतन्त्रता का उद्घोष भी अनादि काल से ही तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि द्वारा समय-समय पर होता रहा है। भले ही हम उससे लाभ न ले पा रहे हों; पर अनादि काल से अनन्त जीव अपनी स्वाधीनता को पहचानकर स्वयं भी परमात्मपद प्राप्त कर चुके हैं और सुखी जीवन जी रहे हैं।

इस कलिकाल में भी परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर पूज्य श्री कानजीस्वामी तक लगभग दो हजार वर्षों से **वस्तुस्वातन्त्र्य** सिद्धान्त का शंखनाद हीनाधिकरूप में अविच्छिन्नरूप से होता ही रहा है और सहस्रों जीव इस सिंहगर्जना से लाभान्वित भी हुए हैं, हो रहे हैं। यदि हम इस **वस्तुस्वातन्त्र्य** सिद्धान्त को समझ लें तो निश्चित ही हमारा अनन्त दुःख दूर हो सकता है और हम सुखी हो सकते हैं।

सम्भवतः बाल गंगाधर तिलक ने भी 'स्वाधीनता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' का नारा जैनदर्शन से ही लिया होगा, जिसका उपयोग उन्होंने राष्ट्रहित में करके सैंकड़ों वर्षों की पराधीनता से भारत को स्वाधीन करा दिया।"

"देखो जी, ये बातें कहने-सुनने में तो बहुत अच्छी लगतीं हैं और ऐसी आदर्श बातों पर भला कौन प्रश्न चिन्ह लगा सकता है? परन्तु समस्या तो यह है कि ऐसा आदर्श जीवन कैसे जिया जाए? वह कौनसी कला है, जिससे जीवन में, घर और परिवार में एवं मानव समाज में भी सहज सुख और शान्ति रह सके? क्या हमें भी वह कला प्राप्त हो सकती है?"

"हाँ, हाँ; सरला ! अवश्य प्राप्त हो सकती है, इसमें निराश होने की जरूरत नहीं है। हम जब भी चाहें, हमें वह कला प्राप्त हो सकती है। वह ऐसी श्रमसाध्य भी नहीं है, दुर्लभ व मूल्यवान भी नहीं है, जिसे पाने के लिये अधिक परिश्रम करना पड़े, कठिनाइयों का सामना करना पड़े और मुद्रा में कोई कीमत चुकानी पड़े। उस सत्य तथ्य को समझने के लिये मात्र थोड़ा सा समय और सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना होनी चाहिए।

वस्तुतः **वस्तुस्वातन्त्र्य** का प्रतिपादक वीतराग-विज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान ही वह वैज्ञानिक कला व कलात्मक विज्ञान है, जिसके यथार्थ प्रतिभास और अभ्यास से मानव जाति का उद्धार होता है।

जैनदर्शन के सन्दर्भ में विश्व-व्यवस्था के व्यवस्थित ज्ञान को ही विज्ञान कहते हैं और वह विज्ञान वीतरागता का उत्पादक एवं वर्द्धक है, अतः उसे ही वीतराग-विज्ञान कहा है। इसी वीतराग-विज्ञानता का प्रायोगिक स्वरूप आत्मोद्धार की कला है। इस दृष्टि से विज्ञान और कला एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे – साइकिल बनाना यदि विज्ञान का काम है तो साइकिल चलाना कला है।

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में हमें विश्व-व्यवस्था सम्बन्धी उन अकर्तृत्व आदि प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषण या अनुशीलन करना होगा; जिनकी यथार्थ श्रद्धा से लौकिक सुख-समृद्धि और लोकोत्तर आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है। तथा व्यावहारिक यशस्वी जीवन जीने की कला सहज ही प्राप्त हो जाती है।

यदि हम आगम के अभ्यास से, युक्ति के अवलम्बन से, परम्परा गुरुओं के उपदेश से और स्वानुभव से तत्त्वज्ञान के तथ्यों तक पहुँच सके तो निःसन्देह हमें निराकुल सुख के साथ वर्तमान में भी आदर्श **जीवन जीने की कला** हाथ लग जायेगी।

जैनदर्शन के बहुचर्चित लोकप्रसिद्ध सिद्धान्त – अनेकान्त, स्याद्वाद, अहिंसा और अपरिग्रह के नामों से तथा पारिभाषिक शब्दावली से तो प्रायः सभी जैन/जैनेतर दार्शनिकजन परिचित हैं; परन्तु यहाँ सुखी जीवन के सन्दर्भ में आध्यात्मिक दृष्टिकोंण से जिस **वस्तुस्वातन्त्र्य एवं अकर्त्तावादी** सिद्धान्तों की चर्चा अपेक्षित है, उनसे जैनेतर तो क्या अधिकांश जैन भी भली-भाँति परिचित नहीं हैं।

"यह क्या कह रहे हैं आप ? अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं ?"

"हाँ-हाँ; औरों की बात तो जाने दो, अकर्त्तावाद की ज्योति जलानेवाले आचार्य कुन्दकुन्द जैसे प्रकाशपुञ्ज के पञ्च परमागमों को पढ़नेवाले एवं उन पर प्रवचन करने वाले अनेक व्यक्तियों का जीवन भी मिथ्या अन्धकार से घिर रहा है। उनमें से अनेक तो गृहीत मिथ्यात्व के महातम को भी नहीं भेद पाये। उनमें अलग किस्म का क्रियाकाण्ड विकसित हो गया है। उन्हें देखकर भी ऐसा विचार आता है कि – हाय ! यह दिया तले अंधेरा कैसा ?

अधिकांशतः आचार्य कुन्दकुन्द के अनुयायी मूल दिगम्बर जैन भी वस्तुस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं। वे तरह-तरह के कुतर्कों से निमित्तों को कर्त्ता-कर्म के रूप में स्थापित करके स्वयं को पर का एवं पर को स्वयं का कर्त्ता मानकर एक ईश्वर की जगह अनन्त ईश्वरों की स्थापना करते देखे जाते हैं।"

"अरे ! यह तो गजब ही हो गया ? यह सुनकर तो कानों को विश्वास ही नहीं होता ! क्या ऐसा भी .....?"

"सरला ! क्या सोचने लगी ? किन विचारों में उलझ गई?"

"क्या कहूँ ? कुछ समझ में ही नहीं आता, आप की इस बात पर विश्वास ही नहीं हो पा रहा। क्या ऐसा भी सम्भव है ? मैं तो यह सोच रही हूँ कि क्या बड़े-बड़े विद्वानों की भी यही स्थिति

है? पर ऐसा क्यों ? यदि ऐसा होने लगे तो हम जैसे अल्पज्ञों का उद्धार कैसे होगा ?"

"देखो सरला ! इस दुनिया में कुछ भी असम्भव नहीं है, यह भी जरूरी नहीं कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके समयसार पर पीएच.डी. करनेवाले बड़े-बड़े विद्वान भी कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक रहस्य को जान ही लें; क्योंकि यह शोधकर्त्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि उसने किस पक्ष को अपने शोध का विषय बनाया है। सम्भव है उन्होंने उनके अकर्त्तृत्ववादी दृष्टिकोंण को अपने शोध का विषय ही नहीं बनाया हो। वे केवल उनके व्यक्तित्त्व, भाषा-शैली और छन्द-अलंकार तथा स्थूल विषय वस्तु के शोध तक ही सीमित रहे हों तो इस विषय में तो उन्हें अनभिज्ञ ही रहना है। भले ही पीएच.डी. हो गये तो इससे क्या ?

ऐसे लोगों को उल्टी हानि ही होती है; क्योंकि जिनका नाम बड़ा हो जाता है, वे छोटे नाम वाले तत्त्वज्ञानी को भी नहीं सुनते। अपने अहं में ही चढ़े रहते हैं। पर सामान्यजन इसको नहीं समझते। इस कारण वे उन्हें कुन्दकुन्द का विशेषज्ञ मानकर भ्रमित हो जाते हैं।

देखो, वास्तविक बात तो यह है कि - जिन्होंने जैन कुल में जन्म लेकर, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य पाकर, जिनवाणी के श्रवण का सौभाग्य प्राप्त कर भी यदि जैनदर्शन के उन मूलभूत सिद्धान्तों को नहीं समझा, जो साक्षात् वीतरागता वर्द्धक हैं, निराकुल सुख और परम शान्ति दायक हैं तो और सबकुछ जानकर भी उन सबके जीवन में अन्धकार ही अन्धकार है, उन सबके लिए भी वही 'दिया तले अन्धेरा' वाली लोकोक्ति चरितार्थ होती है।

अतः इस लोकोक्ति को सुनकर चिढ़ने या बुरा मानने के

बजाय हम सबको एकबार पुनः आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि – कहीं हमारे जीवन पर भी तो यह कहावत चरितार्थ नहीं हो रही है; परन्तु कषायों की विशुद्धि के बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है।

पहले से ही जिसकी नाक में दुराग्रह की दुर्गन्धित गोली रखी हो, उसे अनेकान्त-स्याद्वाद और वस्तुस्वातन्त्र्य व अकर्तावाद जैसे सरल सिद्धान्तों की सुगन्ध नहीं आ सकती। अतः तुम इनके चक्कर में न उलझकर अकर्तावाद को समझने का प्रयास करो। इसीमें तुम्हारा भला है।"

तेरह

"सुलझने का रास्ता एक ही है, वह है कषाय की मन्दता और दुराग्रह से दूर रहकर वस्तुस्वरूप को जानने की रुचि व जिज्ञासा। तथा उलझने के रास्ते अनेक होते हैं; क्योंकि जगत में जितने जीव हैं, उतने प्रकार के ही उनके विचित्र-विचित्र विचार होते हैं। उनके कर्मोदयजन्य भाव और ज्ञान के क्षायोपशमिक भाव भी एक जैसे नहीं होते। इसकारण उनकी विभाव परिणति में एकरूपता कभी सम्भव नहीं है।

मानो इसीकारण नियमसार की १५६ वीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अपने पाठकों को पर में न उलझने की प्रेरणा देते हुए कहा है कि –

जगत में नाना प्रकार के जीव हैं, उनके कर्मोदयजन्य भाव अनेक प्रकार के हैं, उनकी लब्धियाँ, तज्जन्य जीवों की रुचियाँ एवं कषायों के प्रकार भी अनेक हैं; इसकारण सर्व जीवों का समान विचारों के होना असम्भव है। अतः पर जीवों से उलझना तो उचित है ही नहीं; उनको समझा देने की आकुलता करना भी योग्य नहीं है। आत्मावलम्बन रूप निज हित में प्रमाद न हो – इसप्रकार रहना ही कर्त्तव्य है।

इसी ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव का इस गाथा रूप मन्दिर पर चढ़ाये गये काव्यरूप कलश का भाव भी द्रष्टव्य है –

वहाँ कहा गया है कि – प्रायः सन्सारी जीवों के विकल्प भी सन्सार के ही कारण होते हैं और उनके अनेक प्रकार के कर्म भी सदा जन्म-मरण के जनक ही होते हैं। उन जीवों के औदयिक आदि भावों से जन्य नानाप्रकार की लब्धियाँ इस विमल जिनमार्ग के द्वारा सर्व विदित ही हैं। अतः मोक्षाभिलाषियों को स्व-पर के साथ वचन विवाद में उलझना योग्य नहीं है। मौन से रहकर आत्मसाधना एवं जिनमार्ग की आराधना ही कर्तव्य है।"

निजानन्द का यह वक्तव्य सुनकर सरला गद्-गद् हो गई और उसने कहा –

"यह तो आपने **'लाख बात की एक बात'** कह दी"

"मैंने क्या कह दी ? यह तो जिनवाणी की बात है, तुम ही देख लो ! जिनवाणी में ऐसी व्यावहारिक जीवन की बातें भी हैं। वस्तुतः यही **सुखी जीवन का रहस्य** है, इसमें शान्ति ही शान्ति है, सुख ही सुख है। ऐसे विचार से धीरे-धीरे आकुलता का अन्त ही आ जाता है। विचार को थोड़ा गहराइये तो सही ..... फिर तो अधिकतम मौन रहने का ही मन हो जाता है।"

"सुलझने का रास्ता एक है – यह तो परमसत्य है; पर आपने कहा कि–उलझने के रास्ते अनेक हैं, सो वे अनेक कैसे हैं? कौन-कौनसे हैं ? इसे थोड़ा विस्तार से समझाइये न !"

"हाँ, सुनो, इसके लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। अपने जीवन की छोटी-छोटी सी दैनिक गतिविधियों की समीक्षा करके ही देख लो, सब स्वयं ही समझ में आ जायेगा।

जैसे कि – प्रातःकालीन भ्रमण के समय प्रायः सभी जगह सफाई कर्मचारी सड़कों की सफाई करते मिलते हैं। सड़कों पर झाड़ू लगाने से धूल तो उड़ती ही है। वह धूल घूमने वालों की आँखों में भी आती ही है, श्वाँस के साथ मुँह में भी जाती है। इसकारण मन

ही मन तो प्रायः सभी घूमने वाले उस कर्मचारी को कोसते ही हैं, बहुत से अधीर व्यक्ति उनसे उलझ भी जाते हैं, उन्हें गालियाँ भी देने लगते हैं। यदि उन्होंने लौटकर गाली का जवाब गाली से दे दिया, तब तो पूछना ही क्या है ? वहीं दोनों ओर से वाक् बाणों की बौछार प्रारम्भ हो जाती है। घूमने का सारा मजा ही किर-किरा हो जाता है। अनेक तो हाथा-पाई पर भी उतर आते हैं। आस-पास पुलिस हुई तो घर जाने के बजाय थाने में पहुँच जाते हैं।

वस्तुतः होना क्या चाहिए कि – घूमने वाले स्वयं अपनी नाक व मुँह पर रूमाल रखकर शीघ्र ही आजू-बाजू से निकल जाएँ; क्योंकि सफाई कर्मचारी द्वारा यह सम्भव नहीं है कि वह बार-बार एक-एक व्यक्ति को धूल से बचाने के लिये रुके और उसके दूर तक चले जाने की प्रतीक्षा करे। यदि वह ऐसा करने लगे तो सुबह से शाम तक भी अपने एक-दो घण्टे के काम को सम्भवतः पूरा नहीं कर सकता। अतः समझदार पर्यटक यह सोचेगा कि 'सफाई कर्मचारी की भी अपनी मजबूरी है। उसे अपना काम समय पर पूरा करना है और अगली ड्यूटी पर जाना है।'

मान लो, कर्मचारी ने जानबूझकर ही धूल उड़ाई हो और इससे आपको क्रोध आया। तो भी पर्यटक को यह विचार आना चाहिए कि जगत में नाना प्रकार के जीव हैं, उनकी नाना जाति की परिणतियाँ हैं। हम उनसे उलझें या अपना काम करें ? ऐसे किन-किन से उलझेंगे ? जगत में उलझने के रास्ते तो अनेक हैं। यदि कुत्ते हम को देख भौंकते हैं या काटने को दौड़ते है तो क्या हम भी कुत्तों को देख भौंकने लगें, काटने लगें ? अच्छा तो यह है कि हम उनसे बचकर रहें।"

सरला ने प्रसन्नता प्रगट करते हुए कहा – "यह बात तो आपने अपने अनुभव की और मेरे मन की ही कह दी है। अबतक

अक्सर ऐसा ही होता था; अब इस बात का अवश्य ध्यान रखूँगी। यदि और भी ऐसे अनुभूत उदाहरण हों तो वे भी बतायें, जिससे उनसे भी कुछ सीखा जा सके।"

"हाँ सुनो ! कूँजरों को ही ले लो। कूँजरे अर्थात् सब्जी बेचनेवाले। तुम सब्जी लेने तो जाती ही हो और आये दिन तुम्हारी उन कूँजरों के प्रति यह शिकायत रहती है कि – इन सब्जी बेचने वालों से हम बहुत परेशान हैं। किलो का आठ सौ ग्राम तो तोलेंगे ही, निगाह बचाकर सड़ी सब्जी भी तराजू पर चढ़ा देंगे। यदि कुछ कह दो तो लड़ने-भिड़ने को तैयार।

उस समय उनसे लड़ने-भिड़ने व गालियों का जवाब गालियों से देने के बजाय हमें यह सोच लेना चाहिए कि –

'हैं जीव नाना, कर्म नाना, लब्धि नाना विध अरे .....।'

इस बेचारे की तीव्र लोभ कषाय है, इस कारण बे-ईमानी करता है। अथवा ईमानदारी से घरवालों की आजीविका की पूर्ति सम्भव नहीं होगी; अतः इस काम को बुरा जानकर भी करना पड़ता होगा। होगी इसकी कोई मजबूरी। साथ ही यह भी सोच सकते हैं कि हमने सौ-दो सौ ग्राम कम खाया तो अपने को क्या फरक पड़ेगा ? यदि इसको इसी में सन्तुष्टि मिलती है तो मिलने दो।

हाँ, महात्मा गाँधी की तरह हँसी-हँसी में उसे उसकी ठग विद्या का ज्ञान जरूर करा दो; ताकि वह आपको बुद्धू न समझे और आपकी उदारता एवं सद्विचार से परिचित हो जाये। सम्भव है आपकी सज्जनता देख वह गलत काम करना छोड़ भी दे।

इसीप्रकार बाल-बच्चों के प्रति, बहु-बेटियों के प्रति, नौकरों के प्रति, पड़ौसियों के प्रति, पति-पत्नी और सास-ससुर आदि के प्रति भी जब कोई प्रतिकूलता का अनुभव हो तो आचार्य कुन्दकुन्द के उस मंगलमय सन्देश को जरूर याद करें; जो उन्होंने हमें

विपरीत परिस्थितियों में न उलझने के लिए दिया है, यही हमारे सुखी जीवन का रहस्य है।

वस्तुतः जगतजनों के साथ व्यवहार करने में बहुत विवेक और समता भाव की जरूरत है, जो तत्त्वज्ञान और विशुद्ध परिणति से ही सम्भव है; क्योंकि अज्ञानी जगत की मनोवृत्ति या मानसिकता यह है कि मैं सबसे अधिक समझदार हूँ। मूर्ख व्यक्ति अपने को सर्वज्ञ से कम नहीं समझता। जबकि वस्तुतः बात यह है कि कोई भी संसारी प्राणी सभी विषयों का विशेषज्ञ नहीं हो सकता।

जैनदर्शन के मतानुसार तो प्रत्येक क्षयोपशम ज्ञान पर्याय में किस समय कौनसी वस्तु ज्ञेय बनेगी, जानने में आयेगी – यह भी निश्चित है। इसकारण परद्रव्य के करने/कराने में तो हमारा कोई हस्तक्षेप सम्भव है ही नहीं; पर को जानने में भी हमारी मर्यादाएँ हैं, सीमाएँ हैं। अतः आत्मार्थी को आत्मा को जानने की भी जल्दी नहीं होती और आकुलता भी नहीं होती। आत्मार्थी की वह निराकुलता ही उसे शीघ्र आत्मज्ञान प्राप्त करने में कारण बन जाती है, उपयोग को अन्तर्मुखी बनाने में सहायक बन जाती है।

आत्मार्थी जन अज्ञानी जनों के बारे में ऐसा विचार कर सन्तोष करते हैं कि – **इनकी वर्तमान क्षयोपशमज्ञान पर्याय में समझ की ऐसी ही योग्यता है, सहन-शीलता की इतनी ही शक्ति है, इनके शरीर की इतनी ही क्षमता है, इनकी कषाय परिणति की ऐसी ही विचित्र योग्यता है। इस खोटी प्रवृत्ति करने के लिए ये बे-चारे विवश हैं; क्योंकि इनके औदयिक व क्षायोपशमिक भाव ही इस जाति के हैं। अतः इस समय ये बे-चारे न कुछ सीख सकते हैं, न कुछ समझ ही सकते हैं। और न इनके वर्तमान विभावस्वभाव में किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना ही है;** फिर हम इन पर दया करने के बजाय क्रोध क्यों करें ? सचमुच ये तो दया के पात्र हैं। हम इनसे क्यों

उलझते हैं ? यदि हम भी इन्हीं की भाँति उलझते हैं तो फिर हमारे स्वाध्याय का लाभ ही क्या ?

कदाचित् कषायांश वश उलझ भी जायें तो यथाशीघ्र सुलझने की ओर प्रयासरत हो जाना चाहिए। वस्तुतः यही सुखी जीवन का रहस्य है।"

"बात तो आपकी शत-प्रतिशत सही है; परन्तु .... ।"

"परन्तु-किन्तु ....कुछ नहीं; इस किन्तु .....परन्तु .....ने ही तो अब तक हमारी यह दुर्दशा की है।"

"तब फिर आप ही बताइये न ! क्या करें ?"

"करें क्या ? करना तो कुछ भी नहीं है, बस ! इस समय वस्तुस्वातन्त्र्य और अपने अकर्तास्वभाव के सिद्धान्त का चिन्तन करो, मनन करो; विश्व की स्वावलम्बी कारण-कार्य मीमांसा का विचार करो, वस्तुव्यवस्था के स्वतन्त्र पाँचों समवायों का, सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का निर्णय करो। ऐसा करने से पर में कर्तृत्वबुद्धि का अहंकार गल जायेगा और हम सब ओर से निर्भार होकर स्वयं में सिमटने लगेंगे, स्वयं में ही समाने का पुरुषार्थ करने लगेंगे। जब पाँच समवायों के स्वरूप की यथार्थ समझ एवं श्रद्धा से बाहर में, कुछ करने-कराने को रहा ही नहीं तो फिर ज्ञानी जीव अनावश्यक बाहरी उलझनों में क्यों उलझेगा ? जब उसे सुखी जीवन का रहस्य ज्ञात हो ही गया तो फिर वह अपने अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में ही क्रीड़ा क्यों नहीं करेगा ?

जब उसने जान लिया कि अपने अन्दर में ही अनन्त वैभव विद्यमान है, मैं स्वयं सुख का पिण्ड हूँ, असीम गुण रत्नों का रत्नाकर हूँ, तो फिर उसी में तन्मय क्यों नहीं हो जायेगा ? बिना कारण कोई राग-द्वेष-मोह की ज्वाला में जलने के लिए अपने घर से बाहर निकलेगा ही क्यों ?

कविवर भूधरदास को ही देखो न ! वे क्या सोचते हैं –

"अब मेरे समकित सावन आयो।
बीती कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो।।
भूल धूल कहिं मूल न सूझत, समरस जल बरसायो।
भूधर को निकसै अब बाहर, जिनी निरचू घर पायौ।।

जिन्हें बिना टपकनेवाला – निरचू घर मिल गया हो, वह बरसात में भीगने के लिये बाहर क्यों निकलेगा ?"

"आपका यह कहना तो बिल्कुल सही है; पर समस्या तो यह है कि – ऐसे महान सिद्धान्तों को सुनने-समझने का सौभाग्य तो विरलों को ही मिलता है न ?"

"यह ठीक है; पर उन विरलों में तुम भी तो एक हो सकती हो, यदि तुम जैसा जिज्ञासु और मन्दकषायी ही उन विरलों में नहीं होगा तो और कौन होगा ?

देखो सरला ! जिनागम में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के हेतुभूत इन सिद्धान्तों को समझने के लिए जिस पात्रता की आवश्यकता होती है, लगभग वह सब पात्रता तुम में है। अतः किंचित् भी हताश होने की जरूरत नहीं है।"

•

चौदह

वैसे तो विश्व में अनेक दर्शन हैं; परन्तु सृष्टि की संरचना और सञ्चालन अथवा विश्वव्यवस्था की दृष्टि से दाशर्निक जगत के सम्पूर्ण दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

एक – ईश्वरवादी दर्शन और दूसरा – निरीश्वरवादी दर्शन।

पहला – ईश्वरवादी दर्शन तो इस सृष्टि की संरचना और सञ्चालन को ईश्वरकृत कहता है। इस दर्शन की मान्यतानुसार ईश्वर ही जगत की सृष्टि का कर्ता-धर्ता और संहारकर्ता है।

इस दर्शन के अनुसार ईश्वर की मर्जी के बिना उसकी सृष्टि का एक पत्ता भी नहीं हिलता। जगत में जो भी छोटे-बड़े, प्राकृतिक-अप्राकृतिक, सम्भव-असम्भव काम होते हैं, वे सब ईश्वर के कर्तृत्व के ही कमाल हैं।

ईश्वरवादियों का मानना है कि – 'ऐसी चित्र-विचित्र और आश्चर्य जनक सृष्टि की संरचना सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर के सिवाय अन्य कोई नहीं कर सकता। अतः जगत में कोई ऐसी अदृश्य ईश्वरीय सत्ता होनी ही चाहिए।'

सिद्धान्तरूप से ऐसा माननेवाले ये ईश्वरवादी जगत के बहुत से कार्यों के कर्ता स्वयं भी बने बैठे हैं। ऐसा कौन ईश्वरवादी है, जो अपने जीवन निर्वाह के कार्यों को स्वयंकृत नहीं मानता ? जैसे कि – धनोपार्जन, कुटुम्ब पालन-पोषण, समाज सेवा, राष्ट्रोन्नति आदि कार्यों को तो सभी स्वयंकृत मानते ही हैं न ? यदि

ऐसा मानते हैं तो फिर ये कैसे ईश्वरवादी हैं ? यह एक ज्वलन्त प्रश्न है।

दूसरा – 'निरीश्वरवादी दर्शन है, जो इस विश्व को अनादि-अनन्त एवं स्वसञ्चालित मानता है। इसके अनुसार जगत में छह द्रव्य हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है एवं कालद्रव्य असंख्यात कालाणु रूप हैं।

इन छहों द्रव्यों के समूह का नाम ही विश्व है। ये सभी द्रव्य या यह विश्व सत् स्वभावी होकर भी परिणमनशील है। प्रत्येक जीव और पुद्गल का प्रत्येक परमाणु स्वभाव से ही अनन्त पारमेश्वरी शक्ति से सम्पन्न है। अपना-अपना परिणमन करने के लिए जीव तो क्या, जड़ परमाणु भी स्वयं परमेश्वर है; पूर्ण समर्थ है। किसी को भी पर सहयोग की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। अतः सब अपने-अपने कार्य के तो कर्त्ता हैं;परन्तु कोई भी द्रव्य किसी अन्य के कार्यों का कर्त्ता नहीं है।"

निजानन्द ने तटस्थ भाव से दोनों ही दर्शनों की मुख्य-मुख्य मान्यताओं को बताकर सरला को समझाया कि – "उक्त दोनों ही मान्यताओं से यह तो सिद्ध होता ही है, यह निष्कर्ष तो निकलता ही है कि - चाहे विश्व की व्यवस्था कोई एक ईश्वर करे, चाहे वह स्व-संचालित हो, ऑटोमेटिक हो; हम तो दोनों ही स्थितियों में पर के कार्यों के कर्त्ता नहीं हैं। हम तो पर में कुछ करने/कराने के उत्तरदायित्व से मुक्त ही हैं, निश्चिन्त ही हैं। हमारे माथे कुछ भी करने/कराने की जिम्मेदारी या बोझ नहीं है। फिर भी अज्ञानी जीव पर के कार्यों के कर्तृत्व के कल्पित अहंकार में स्वयं को इतना उलझाये हुये है कि उसे **मरने की भी फुरसत नहीं है** – यह कैसी विडम्बना है ?

दोनों दार्शनिक मान्यताओं में कौन सच है, कौन सच नहीं है ? यह तो अभी कोई मुद्दा ही नहीं है; क्योंकि दोनों ही मतों के माननेवाले लोग भले ही अपने-अपने मतों को कुलधर्म की अपेक्षा सत्य मानते हों; परन्तु व्यावहारिक धरातल पर तो प्रायः सभी जीव स्वयं को ही सब कार्यों का कर्त्ता मानकर परोक्षरूप से दोनों ही मतों में अपनी-अपनी अश्रद्धा एवं असहमति ही प्रगट कर रहे हैं !"

सरला ने कहा – "देखोजी, आप दर्शनशास्त्र के ज्ञाता हैं, आपने सब दर्शन देखें हैं, पढ़े हैं; आपके पास तर्क और युक्तियाँ भी हैं, अतः हम जैसे सामान्यजन आपसे तर्क-वितर्क तो नहीं कर सकते; परन्तु आपकी ये बातें हमारे गले आसानी से नहीं उतर रहीं हैं। अतः इस विषय को थोड़ा विस्तार से समझाना पड़ेगा।

आखिर आप कहना क्या चाहते हैं ? यदि सचमुच हम कुछ नहीं करते तो ये रोटी-पानी आदि सब गृहस्थी के काम कौन कर जाता है ? यदि हम दिन-रात एक करके इन कामों को न करें तो ये ऑटोमेटिक कैसे हो जायेंगे ? क्या ईश्वर किसी के चौके में आकर रोटियाँ बनायेगा, बर्तन माँजेगा या कपड़े धोयेगा? अथवा वे पारमेश्वरी शक्ति से सम्पन्न पुद्गल के परमाणु यह सब काम करेंगे ?"

"देखो सरला ! यही तो हमारा अज्ञान है, पर-पदार्थों के कर्तृत्त्व का मिथ्या अहंकार है। प्रथम, ईश्वर-कर्तृत्व की बात में तो तुम्हें श्रद्धा ही नहीं है; अतः उसकी समीक्षा की तो यहाँ आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। रही निरीश्वरवादी दर्शन की बात, सो इस दर्शन के अनुसार जगत के जो भी छोटे-बड़े, जड़-चेतन के कार्य होते हैं, उन सब कार्यों के अपने-अपने पाँच समवाय होते हैं। सभी कार्य इन पाँच समवाय पूर्वक ही होते हैं। दोनों ही दर्शनों के अनुसार हमारा तो किसी भी कार्य में कुछ भी कर्तृत्व या हस्तक्षेप नहीं है।"

"यह भी खूब कही ! कर-कर के हम मरें और करने का सारा श्रेय या तो ये समवाय ले जायें या ईश्वर ले जाये ?"

"देखो सरला ! कार्य का वास्तविक कर्त्ता कौन है ? और कार्य सम्पन्न होने का श्रेय किसे मिलता है ? किस प्रकार की प्रक्रिया से कार्य सम्पन्न होता है ? वस्तु की कार्य-कारण व्यवस्था कैसी है ? इन सब बातों की चर्चा भी यथा अवसर होगी ही; परन्तु अभी उपर्युक्त दोनों मान्यताओं के बारे में भी विशेष ऊहापोह - तर्क-वितर्क न करके, हम तुमसे इस सम्बन्ध में मात्र इतना पूछना चाहते हैं कि - यदि तुम्हें इन तीनों व्यवस्थाओं में से किसी एक को चुनने को कहा जाय, तो तुम कौनसी व्यवस्था पसन्द करोगी ? ईश्वरकृत, मानवकृत या ऑटोमेटिक व्यवस्था ?"

"मैं ही क्या ? कोई भी समझदार व्यक्ति मेरी राय से तो ऑटोमेटिक व्यवस्था ही पसन्द करेगा; क्योंकि इस व्यवस्था में कम से कम किसी पक्षपात या अन्याय की गुञ्जाइश तो नहीं है।

हम आज अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जब से कम्प्यूटर (ऑटोमेटिक मशीनों) के द्वारा रेल्वे टिकटों के ऑटोमेटिक सिस्टम से रिजर्वेशन होने लगे, तब से आरक्षण टिकटों के वितरण में होनेवाला भयंकर भ्रष्टाचार समाप्त सा ही हो गया है। सभी यात्री निश्चिन्त हो गये हैं। टिकटों की प्रतीक्षा सूची का क्रमांक ऑटोमेटिकरूप से टिकटों की वापसी के आधार पर क्रमशः घटते-घटते स्वयं अपने क्रम में आ जाता है।

इसीबात को व्यक्तियों के वजन तोलने की ऑटोमेटिक मशीन के उदाहरण से भी समझ सकते हैं। सार्वजनिक स्थान पर लगी ऑटोमेटिक मशीन पर जितने व्यक्ति तुलेंगे, नियम से उतने सिक्के उसमें पड़े मिलेंगे और दूसरी ओर सादा काँटा भी वहाँ लगा हो, जिसकी जिम्मेदारी एक ईमानदार व्यक्ति को सौंपी गई हो कि वह

पचास पैसे में प्रत्येक व्यक्ति को तोलकर उसका नाम रजिस्टर में दर्ज करे और शाम तक जितने व्यक्ति उस काँटे पर तुले हों, पचास पैसे के हिसाब से उतनी धनराशि कार्यालय में जमा कराये।

सबसे पहले तो वह ईमानदार व्यक्ति उस काँटे पर स्वयं तुलेगा और रजिस्टर में अपना नाम नहीं लिखेगा। अपने बेटे-बेटी और माता-पिता व पत्नी को तोलेगा और उनके नाम भी दर्ज नहीं करेगा। यदि दोस्त-मित्र आ गये तो उन्हें भी तोल देगा और उनसे भी पैसे नहीं लेगा। इसतरह जितने व्यक्ति तुलेंगे, गारन्टी से उनके हिसाब से उतने रुपये जमा नहीं होंगे। इसमें उसे बे-ईमानी-सी लगती ही नहीं है। वह तो मात्र उसे बे-ईमानी मानता है कि सौ व्यक्तियों से पैसे ले लिये और पचास के जमा किये, पचास के खा-पचा गये। जब उसने उनसे पैसे लिये ही नहीं तो इसमें बे-ईमानी की बात ही क्या है? पर क्या उसका यह सोच सही है? नहीं, कदापि नहीं। ऑटोमेटिक मशीन ऐसा नहीं करती, अतः ऑटोमेटिक व्यवस्था ही सही है।

मानवकृत व्यवस्था में और ऑटोमेटिक व्यवस्था में जो अन्तर है, वह तो उक्त दो उदाहरणों से स्पष्ट हो ही गया होगा? अतः मेरा तो दृढ़मत यही है कि इन दोनों में तो ऑटोमेटिक व्यवस्था ही सर्वश्रेष्ठ है।"

"सरला! वैसे तुमने ठीक ही कहा है कि – ऑटोमेटिक सिस्टम ही ठीक है; क्योंकि उसमें बे-इमानी की सम्भावना नहीं है। और मानवीय व्यवस्था में बे-ईमानी की सम्भावनाएँ प्रबल हैं; परन्तु यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि – 'कहाँ ईश्वर और कहाँ ये साधारण टिकट कलेक्टर या काँटा तौलनेवाले बे-ईमान व्यक्ति?' ये लोग बे-ईमान हो भी सकते हैं; अथवा रुपयों की जरूरत के कारण ईमानदारों को भी कभी-कभी ऐसा करने को बाध्य होना पड़

सकता है; परन्तु ईश्वर के सामने तो ऐसी कोई समस्या नहीं है। ईश्वर तो सर्वशक्ति सम्पन्न, सर्वज्ञ और वीतराग भी होता है, उसके कर्त्तृत्व में तो ऐसी कोई कमी नहीं रहना चाहिए ?"

"हाँ, यही तो मैं भी सोच रही थी; आपने तो मानो मेरे मुँह की बात ही छीन ली। अब आप ही इसका समाधान भी बतायें।"

"सरला ! मैं ईश्वर के सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ नहीं कहना चाहता; क्योंकि मैं मूलतः ईश्वरवादी नहीं हूँ। मेरी सही बात में भी उतना वजन नहीं होगा, जितना ईश्वरवादी की बात में होगा। अतः मैं इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि और ईश्वरवाद के ही कट्टर अनुयायी श्री माखनलाल चतुर्वेदी को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। वे अपने आराध्य ईश्वर के सामने अपने पर हो रहे अन्याय से असन्तुष्ट होकर अपने दिल के दर्द को व्यक्त करते हुए कहते हैं –

हे भगवान ! मैं तुझसे न्याय की क्या आशा करूँ ? तुझसे तो वह पुलिस का सिपाही ही अच्छा है। यद्यपि उसके पास ऐसी कोई कानूनी शक्ति नहीं है, जिससे वह आँखों-देखी हत्या के अपराधी को भी मृत्युदण्ड जैसा कुछ दण्ड दे सके, या दिला सके; फिर भी दस-बीस हजार की बड़ी रकम रिश्वत में लेकर इतना दण्ड तो वह अप्रत्यक्षरूप से ही सही, उस अपराधी को दे ही देता है।

भगवान ! आपका तो यह हाल है कि वही हत्यारा यदि आपके पास आकर यह प्रार्थना करता कि – हे प्रभु ! मुझसे जो हत्या का अपराध बन गया है, उससे मुझे न्यायालय में निश्चित ही प्राणदण्ड मिलेंगे; परन्तु यदि आप चाहेंगे तो कोई मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकता। अतः मैं आपकी शरण में आया हूँ और आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे बचा लें।'

उसकी गिड़गिड़ाहट सुनकर सचमुच भगवान का सिंहासन डोल जाता है और वे उसे बचा लेते हैं।

बस, इसी स्थिति का चित्रण कवि ने निम्नांकित पंक्तियों में किया है। वे कहते हैं –

'अरे भगवान ! तू क्या कर सकेगा इन्साफ ।
अरे प्रार्थना की रिश्वत पर, कर देता है माफ ॥

भला ऐसे ईश्वर-कर्तृत्त्ववादी दर्शन की बात बुद्धिजीवियों के गले कैसे उतर सकती है ? भले वे उसी दर्शन के माननेवाले क्यों न हो ?"

सरला ने कहा – "इन दोनों व्यवस्थाओं में यदि मुझे चुनाव करने का मौका मिला तो मैं तो ऑटोमेटिक व्यवस्था ही पसन्द करूँगी !"

"सरला काश ! यही व्यवस्था वास्वतिक हो तो हमें कदम-कदम पर परमुखापेक्षी भी नहीं होना पड़ेगा। छोटी-छोटी बातों के लिए ईश्वर के दरबार में नहीं दौड़ना पड़ेगा। मान लो ! कदाचित् पक्ष व विपक्ष के दोनों ही व्यक्ति ईश्वर के दरबार में पहुँच गये और भगवद् भक्ति की प्रतियोगिता में आमने-सामने खड़े हो गये, दोनों में भक्ति-भावनाओं की होड़ लग गई तो ईश्वर भी धर्मसंकट में फँस जायेगा न ? वह किस भक्त का साथ दे, किसका न दे ?

सरला ! इतना ही नहीं, इसमें एक समस्या और भी आ सकती है।"

"वह क्या ?" – सरला ने जिज्ञासा प्रगट की।

निजानन्द ने कहा – "मान लो ! कोई भक्त श्रीकृष्ण के सखा उद्धव की भाँति ईश्वर का मुँहलगा मित्र हो तो वह अपने प्रभु से यह भी तो पूछ सकता है कि – प्रभु ! जब आप ईश्वर हो, सब कुछ करने/कराने में समर्थ हो, अनन्त व असीम शक्ति सम्पन्न

हो, सर्वज्ञ हो, भूत-भविष्य के सब अच्छे-बुरे परिणामों को अर्थात् उनके नतीजों को भलीभाँति जानते हो; फिर भी आप सृष्टि की ऐसी अटपटी संरचना करके स्वयं को एवं अन्य प्राणियों को संकट में डालते ही क्यों हो ?

मानव का इतना श्रेष्ठ, सर्व सुविधा संयुक्त शरीर बनाया; साथ ही उसके एक-एक रोम में ९६-९६ रोग रचकर उसे आनन्द का मन्दिर न बनाकर व्याधियों और व्यथा का घर बना दिया।

इतने बढ़िया रंग-बिरंगे और सुगन्धित पुष्पों से भरे बाग-बगीचे बनाये तो उन्हें काँटों और कीट-पतंगों से भर दिया, चन्दन के पेड़ बनाये तो उन्हें विषधर काले नागों से लपेट दिया। सेवाभावी, सर्वांग सुन्दर स्त्रियाँ बनाईं तो उन्हें अबला बना दिया, साथ ही उनमें मायाचार का मीठा जहर भर दिया। धन-धान्य बनाये तो चोर-लुटेरे एवं अतिवृष्टि-अनावृष्टि के बर्बादी के साधन साथ में रच डाले। पाँचों इन्द्रियों के सुहावने विषय बनाये तो उन्हें पापों के भय से भर दिया।

हो सकता है, आपका कोई अन्धभक्त आपके इन कृत्यों को प्रभु-लीला कह कर समाधान करे; पर मैं ऐसे माननेवाला नहीं हूँ; क्योंकि आपकी ऐसी कैसी लीला? जो दूसरों की जान-लेवा साबित हो; दूसरों को ऐसे संकट में डाल दे, जो जीवन भर उस दुःख से छुटकारा ही न पा सके ? आपकी शरण में आये तो आप उससे संकट-मोचन जैसी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ प्राप्त करें, फिर भी वह संकट से मुक्त न हो।

प्रभु ! आपकी ओर से आपका कोई भक्त यह दलील भी दे सकता है कि किसी की सुगति या कुगति का निर्धारण ईश्वर अपनी मर्जी से नहीं; बल्कि उसके पुण्य-पाप या अच्छे-बुरे कर्मों के आधार से करता है; परन्तु उन्हें पुण्य-पाप करने के, अच्छे-बुरे कर्म

करने के प्रेरक तो प्रभु आप ही हैं न ? एक जगह कहीं मैंने पढ़ा भी है कि – **'ईश्वरः प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा'**।

आज अधिकांश लोग मांसाहारी, शराबी-कबाबी, क्रोधी, हिंसक प्रवृत्ति के ही दिखाई देते हैं। यदि उनसे कुछ कहो तो आपकी आड़ में उत्तर मिलता है – ईश्वर ने ये सब सुन्दर एवं खूबसूरत वस्तुयें हमारे भोग-विलास और ऐशो-आराम के लिये ही तो बनाईं हैं, फिर हम इनका उपभोग क्यों न करें ?

क्या सचमुच आपने ये रंग-बिरंगी मछलियाँ, मुर्गे-मुर्गियाँ, बकरे- बकरियाँ, गाय-भैंस जैसे घास-फूस पर जीनेवाले भोले-भाले प्राणी इस मानव जाति के खाने के लिये ही बनाये हैं ? नन्हीं-मुन्नी बालिकायें क्या सचमुच बलात्कार करने के लिए बनाईं हैं ? इन्हें तड़फता, रोता-विलखता देख क्या तुझे जरा भी करुणा नहीं आती?

प्रभु! यह कैसी लीला है तेरी ? यह कैसा सृष्टि-कर्तृत्त्व है तेरा? कुछ समझ में नहीं आता। प्रभु! ऐसी हालत में कुछ अन्धभक्त भले ही तुझे पूजते रहें, पर पढ़े-लिखे, विचारवान और वैज्ञानिक दृष्टिवाले व्यक्तियों का तो धीरे-धीरे तेरी सत्ता पर से ही विश्वास उठ जायेगा।

अब तो अधिकांश व्यक्ति ऑटोमेटिक स्व-सञ्चालित विश्व व्यवस्था में ही अपना विश्वास व्यक्त करने लगे हैं; क्योंकि इस पक्ष के पोषक तर्क हैं, युक्तियाँ हैं, आगम है और वैज्ञानिक समर्थन भी है। अतः प्रबुद्ध पाठक कुलधर्म के चक्कर में पड़े न रहकर परीक्षा प्रधानी बनें, इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें और आत्महित के हेतुभूत वस्तुस्वातन्त्र्य के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करें।

●

पन्द्रह

"ठीक है, यह तो मैं समझ गई कि ईश्वरकर्तृत्व को स्वीकार करने में अथवा मानवकृत व्यवस्था मानने में अनेक समस्यायें उत्पन्न होने की सम्भावना है। अब तो आप उस ऑटोमेटिक विश्व-व्यवस्था का स्वरूप समझाइये, जिसकी चर्चा आपने अनीश्वरवादी दर्शन के सन्दर्भ में की थी।" – सरला ने कहा।

"हाँ, सुनो! यह जैनदर्शन की मान्यता है, इसके अनुसार–

'किनहूँ न करै न धरै कौ; षट्द्रव्यमयी न हरै कौ।

अर्थात् इस विश्व को किसी ने बनाया नहीं है, उत्पन्न किया नहीं है, इसका कोई रक्षक भी नहीं है और न कोई इसका नाश ही कर सकता है। कोई इसे अपने ऊपर धारण भी नहीं किये है। यह विश्व तो छह द्रव्यमय है और अनादि-अनन्त है। इस विश्व की प्रत्येक वस्तु स्वभाव से नित्य होते हुये भी उत्पाद-व्यय-धौव्य सहित है। इसकी सत्ता या अस्तित्व स्व के आश्रय से ही है। यह सत् स्वभावी होकर भी सतत् परिणमनशील भी है।

इसप्रकार इस दर्शन के अनुसार इस ऑटोमेटिक – स्व-सञ्चालित जगत का कर्त्ता न तो कोई ईश्वर है और न कोई मानवीय शक्ति ही है। यह तो अनादि-अनन्त स्व-निर्मित है। इस विश्व व्यवस्था के अनुसार हम कह सकते हैं –

'होता स्वयं जगत परिणाम, मैं पर का करता क्या काम?'

वस्तुतः जगत में किसी ऐसी ईश्वरीय सत्ता का अस्तित्व

ही नहीं है; परन्तु अधिकांश व्यक्तियों ने तो उसे ही जगत का कर्ता-धर्ता मान रखा है, इसतरह जिसका अस्तित्व ही नहीं है – ऐसे पर के कर्तृत्व की कल्पित कल्पनाओं से अज्ञानी जीव दु:खी हैं। उनके साथ सचमुच **'सूत न कपास जुलाहों में लठा-लठी'** वाली कहावत चरित्रार्थ हो रही है।

सरला ने पूछा – "सूत न कपास जुलाहों में लठा-लठी – ऐसा कहकर आप कहना क्या चाहते हैं ?"

"यह एक कहावत है। दो जुलाहों की कहानी के माध्यम से हम तुम्हें इस कहावत का रहस्य भी बताये देते हैं। सुनो !

एक सुन्दर-सा खेत देख एक राहगीर जुलाहा अपने साथी दूसरे जुलाहे से बोला – यदि यह खेत मुझे मिल जाय तो मैं इसमें कपास की खेती करके लाखों रुपये कमा सकता हूँ।

दूसरा बोला – अरे ! कपास की खेती तो कहीं भी हो सकती है। यदि यह खेत मुझे मिला तो मैं तो इस खेत में सूत बनाने का कारखाना लगाऊँगा। यह नगर के निकट है न ? मजदूरों को आने-जाने की सुविधा रहेगी।

इस मुद्दे पर दोनों जुलाहों में लठा-लठी होने लगी।

तीसरे राहगीर ने बीच-बचाब करते हुये दोनों जुलाहों से पूछा – "आखिर इस लठा-लठी का कारण क्या है ?"

"वह खेत, जिसमें मैं कपास की खेती करना चाहता हूँ। यह नालायक कहता है कि उसमें तो मैं कारखाना बनाऊँगा।"

राहगीर ने पुन: पूछा – "यह तो ठीक, पर वह तुम्हारा खेत है कहाँ ? हम भी तो देखें उसमें कपास उग सकता है या सूत का कारखाना खुल सकता है ?"

"अजी, अभी वह खेत मेरा है कहाँ ? – बात तो यह थी कि काश ! वह खेत मेरा होता तो ..... ।"

"तेरा होता, तब न तू खेती करता ?" – राहगीर ने कहा।

"क्यों भाई ! और तुम्हारा कारखाने वाला खेत कहाँ है ?"

"अभी कहाँ है ? काश ! वही खेत मेरा होता तो ....."

"वाह ! भाई, वाह !! यह भी लड़ाई का मुद्दा हो सकता है! यह तो आजतक मेरी समझ से परे है। जहाँ न सूत का ठिकाना है, न कपास का ठिकाना है, न कोई खेत है, न खलिहान है और हम उनके कारण लड़े जा रहे हैं।"

निजानन्द ने कहा – "बस, ऐसी ही लड़ाई धर्म के क्षेत्र में सत्य-तथ्य न समझने वालों के बीच हुआ करती है और वे सत्य से कोसों दूर रहते हुए उन जुलाहों की तरह लठा-लठी करते रहते हैं, जिनके पास न सूत है और न कपास, फिर भी लड़ते हैं।

सचमुच न कोई ईश्वर ही ऐसा है, जो ऐसी विचित्र सृष्टि को बनाता है और न मानवों में ऐसी कोई शक्ति है, जो इतनी अटपटी विश्व-व्यवस्था को सँभाल सके; उसका सञ्चालन कर सके। अतः एक मात्र ऑटोमेटिक व्यवस्था का विकल्प ही रह जाता है, जिसमें यह सबकुछ सम्भव है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अपने स्वतन्त्र पाँच समवाय होते हैं, जिनकी चर्चा अगली किसी गोष्ठी में विस्तार से करेंगे।

सरला ! जब बालक माँ के गर्भ में आता है, तभी से तुम उस बालक के विकास-क्रम का सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो तो तुम्हें इस ऑटोमेटिक सिस्टम का स्वरूप स्वतः ख्याल में आ जायेगा कि – यह सब बिना किये अपने आप कैसे होता है ?

माँ के उदर में बालक के एक-एक अंगोपांग की इतनी सुन्दर और परफेक्ट संरचना कौन करता है ? हृदय, फेफड़े, लीवर, किडनी, आँतें और एक-एक नस, हड्डी, जीभ, दाँत आदि महत्त्वपूर्ण शारीरिक अवयवों का निर्माण एवं विकास कौन करता

है ? श्वासों का आना-जाना, मल-मूत्र क्षेपण आदि क्रियायें, प्रतिदिन शरीर के योग्य पौष्टिक खुराक और उसमें से एक-एक अंग को पोषण देने वाले विटामिन, कैल्शियम, आयरन आदि तत्त्वों का विभाजन करने हेतु उस माँ के पेट में जाकर कौन बैठा है ?

क्या यह संरचना करना किसी साधारण मानव द्वारा सम्भव है ? अथवा कोई ईश्वर आकर यह सब करता रहता है ? जगत में कोई एक-दो शिशु गर्भस्थ तो हैं नहीं। अरे ! लोक में छोटी-बड़ी असंख्य-अनन्त चलती-फिरती जीवराशि है, उससे भी असंख्य गुने पेड़-पौधे वनस्पति आदि हैं, अनन्त/असंख्य जीव-जन्तु, पशु-पक्षी हैं, कीड़े-मकोड़े हैं; उन सबकी संरचना करते हुए क्या कोई एक ईश्वर सुख की साँस ले सकता है ? चैन से रह सकता है ? नहीं, कदापि नहीं।

वस्तुतः ये सब स्व-सञ्चालित हैं, ऑटोमेटिक हैं; परन्तु इस तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ अज्ञानी जगत ने अपने सुख-दुख का, जीवन-मरण का, भले-बुरे का सारा कर्तृत्व या तो उस ईश्वर को सौंप रखा है, जिसे कभी किसी ने प्रत्यक्ष तो देखा ही नहीं, युक्तियों से भी जो सिद्ध नहीं होता। अथवा उन स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्रादि चेतन एवं धन-धान्य आदि जड़ पदार्थों को और जड़ कर्मों को सौंप रखा है, जिनके पास दूसरों को देने लायक कुछ है ही नहीं।

जिन व्यक्तियों ने अज्ञ या अल्पज्ञ, असमर्थ चेतन को एवं ज्ञान शून्य जड़ कर्मों को अपना कर्तृत्व सौंप रखा है, जो इन सबसे स्वयं को सुखी-दुःखी होना मानते हैं; उनसे तो वे ईश्वरवादी ही अच्छे हैं; क्योंकि उन्होंने अपना काम एक तथाकथित सर्वज्ञ और सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर को तो सौंपा है !

जो ऐसे एक ईश्वर के कर्तृत्व को तो मानते ही नहीं, वस्तु की ऑटोमेटिक व्यवस्था को भी न मानकर स्वयं को पर का कर्ता

और पर को स्वयं का कर्ता माने बैठे हैं, वे बहुत बड़ी भूल में हैं। उन्होंने तो अपने सुख-दुःख का कर्तृत्व अचेतन या तो जड़ कर्मों के माथे मढ़ा है या फिर परद्रव्यों को कर्त्ता मानकर एक ईश्वर को छोड़कर अनेक परद्रव्यरूप ऐसे अनन्त ईश्वर खड़े कर रखे हैं, जिनके पास दूसरों का भला-बुरा करने की या सुखी-दुःखी करने की शक्ति ही नहीं है।"

सरला ने कहा – "ऑटोमेटिक विश्व-व्यवस्था को आपने जो गर्भस्थ शिशु का उदाहरण देकर समझाया, वह बात मेरे मन-मस्तिष्क में एकदम खचित हो गई है। सिद्धान्त तो गज़ब का है ही, उदाहरण भी एकदम सटीक है। सचमुच बात तो कुछ ऐसी ही है; परन्तु इस प्रक्रिया के सम्पन्न होने में आपने जिन पाँच समवायों की बात कही थी – वे समवाय क्या हैं ? उन्हें भी इसी तरह किसी दिन ऐसे ही एवं सरल उदाहरणों से समझा दीजिए।"

"हाँ, हाँ; किसी दिन क्यों ? कल से समवायों की चर्चा ही प्रारम्भ कर लेते हैं। शुभ काम में देर क्यों ?"

"अच्छा ठीक है, कल से यही चर्चा प्रारम्भ कर दीजिए। अभी उपस्थिति भी अच्छी है। सब को सुखी जीवन का रहस्य सुनने/समझने का सौभाग्य मिल जायेगा।" •

सोलह

निजानन्द की गोष्ठी और प्रवचनों की बढ़ती लोकप्रियता से अब श्रोताओं की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी थी; इस कारण निजानन्द को भी काफी उत्साह हो गया था। पिछले चार-पाँच दिन से प्रवचन के पश्चात् विनीता एवं सुनीता वस्तु स्वातन्त्र्य के पोषक भजनों को बड़े ही सुरीले स्वर में गा रहीं थीं। इसकारण निजानन्द ने उन्हीं भजनों के माध्यम से पाँच समवाय का स्वरूप समझाने का मानस बना लिया था। अतः उसने अध्यात्मरसिक कविवर बुधजन की पाँच समवाय पोषक निम्नांकित पंक्तियों से ही मंगल प्रवचन प्रारम्भ किया –

"हम कौं कछु भय ना रे, जान लिया संसार।
जाकरि जैसे जाहि समय में, जो होतव जा द्वार।।
सो बनि है टरिहै कछु नाहीं कर लीनो निरधार,
हम कौं कछु भय ना रे॰।।

देखो, वह सही स्थिति क्या है, जिसे जान कर कविवर बुधजन ऐसी डन्के की चोट निर्भय होने की घोषणा कर रहे हैं।

उनका पक्का निर्णय है, दृढ़ श्रद्धा है कि जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है, इसके अनुसार विश्व की स्व-सञ्चालित व्यवस्था छहों द्रव्यों के स्वतन्त्र परिणमन एवं अपने-अपने पाँच समवाय पूर्वक ही होती है। जैसा कि कविवर ने उक्त काव्य पंक्तियों में घोषित किया है। उक्त पद्य में वे कहते हैं कि जिसद्रव्य की, जो

पर्याय, जिस समय में, जिसके द्वारा, जैसी होनी है, उसी द्रव्य की, वही पर्याय, उसी समय में, उसी के द्वारा वैसी ही होती है। उसमें कोई फेरफार सम्भव नहीं है। उसमें एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकता।

बस, इसी सत्य तथ्य के आधार पर वे निर्भय हुए हैं। वस्तुतः निर्भयता सत्य के आधार पर ही आती है, कल्पना के आधार पर नहीं।"

निजानन्द ने आगे कहा – "बन्धुओ ! अबतक की चर्चा से तुम इतना तो समझ ही गये होंगे कि – जैन दर्शन को चाहे अकर्तावादी कहो या स्व-कर्तावादी कहो या सहज कर्तावादी कहो – सबका एक यही अर्थ है कि – यह दर्शन परद्रव्यों का कर्ता तो है ही नहीं, उनमें फेरफार का कर्ता भी नहीं है।

इसका अर्थ मात्र इतना हो नहीं लेना कि यह तथा कथित किसी ईश्वर विशेष को कर्त्ता नहीं मानता। अकर्तावाद का व्यापक अर्थ तो यह है कि – कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है। यहाँ तक कि – कोई अपनी क्रमनियमित पर्यायों में भी किसी प्रकार का फेरफार नहीं कर सकता, उन्हें क्षेत्र से क्षेत्रान्तर एवं अपने-अपने स्व-काल से आगे-पीछे भी नहीं कर सकता।

ये सभी कार्य अपने-अपने पाँच समवायों से होते हैं, उन पाँच समवायों में भी सभी कुछ सुनिश्चत क्रम में ही होता है।"

एक श्रोता ने खड़े होकर विनय पूर्वक प्रश्न किया – "ये पाँच समवाय क्या हैं ? एवं इनसे कार्य कैसे निष्पन्न होते हैं ? यह बात किसी सरल उदाहरण से समझायें तो ठीक रहेगा।"

निजानन्द ने आश्वस्त किया – "हाँ, हाँ; क्यों नहीं ? सुनो!

कार्य की उत्पादक सामग्री को कारण या समवाय कहते हैं। कार्य के पूर्व जिसका सद्भाव नियत हो और जो किसी विशिष्ट कार्य

के अतिरिक्त अन्य कार्य को उत्पन्न न करे; उसे कारण या समवाय कहते हैं। वे पाँच हैं – १. स्वभाव २. पुरुषार्थ ३. नियति या होनहार ४. स्व-काल एवं ५. निमित्त।

जीवों और पुद्गलों में जब भी, जो भी कार्य सम्पन्न होता है; वह अपने-अपने उपर्युक्त पाँचों समवायों पूर्वक ही होता है।

जैसे कि – अपना सर्वाधिक प्रयोजनभूत कार्य सुख का होना और दुःख का न होना है। अतः सुख-दुःख रूप कार्य के पाँचों समवायों पर क्रमशः विचार करते हैं।

स्वभाव :– सुख या दुःख रूप कार्य जीव द्रव्य में ही होता है, पुद्गल में नहीं; क्योंकि पुद्गल में तो सुखी-दुःखी होने का कोई गुण ही नहीं है, जो सुख-दुःख रूप परिणमे। इसप्रकार सुख-दुःख रूप कार्य का प्रथम समवाय – जीव का **स्वभाव** है।

पुरुषार्थ :– वह सुख या दुःख रूप कार्य, कार्य के अनुकूल प्रयत्न पूर्वक ही होता है। जीव अपने स्वभाव के अनुकूल या अविरुद्ध क्षमा आदि भाव रूप प्रयत्न करेगा तो सुख होगा। और स्वभाव के प्रतिकूल या विरुद्ध क्रोधादि रूप प्रयत्न (उद्यम) करेगा तो दुःख होगा; क्योंकि स्वभाव के विरुद्ध कारण अर्थात् प्रतिकूल कारण ही दुःखरूप कार्य के अनुकूल होते हैं। बस, सुख या दुःखरूप कार्य का यही दूसरा समवाय जीव का **पुरुषार्थ** है।

नियति :– जीवों को जो सुख या दुःख होना उनकी नियति में है, वही होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि – उन्हें तो सुखी होना था, किन्तु अचानक दुःख के निमित्त कारण मिल गये, इससे सुखी होने के बजाय वे दुःखी हो गये। वस्तुतः निमित्तरूप परद्रव्य सुख-दुःख के कारण नहीं होते। यह तीसरा **नियति** नामक समवाय है।

स्व-काल :– वह सुख या दुःख जीव को जब होना होता है, तभी होता है। उन सुख-दुःख के क्षणों को कोई आगे-पीछे नहीं

कर सकता है, न समय से पहले ला सकता है और न समय से आगे बढ़ा सकता है। यह जीव के सुख-दुःख रूप कार्य का **स्व-काल** नाम का समवाय है। इसे **काललब्धि** भी कहते हैं।

निमित्त :– जो पदार्थ स्वयं तो कार्यरूप परिणत न हो; परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने से जिस पर कारणपने का आरोप आता है, उसे **निमित्त समवाय** कहते हैं।

यहाँ जीव के सुख या दुःख रूप कार्य के उदाहरण में सुख के अनुकूल अन्तरंग कारण तो पुण्य का उदय एवं बहिरंग कारणों में अनुकूल स्त्री-पुत्र, धन्य-धान्य आदि की उपस्थिति **निमित्त** नामक पाँचवाँ समवाय है।

मान लो कि ज्ञानी और अज्ञानी कहीं एक साथ बैठे हैं। सामने खूंखार नरभक्षी शेर आ गया। अब न तो भागने का ही अवसर रहा और न ही उससे बचने का कोई अन्य उपाय दिखाई देता है। इस अवसर पर ज्ञानी तो उक्त सिद्धान्त के आधार पर धैर्य धारण कर निर्भय रहेगा और अज्ञानी भयाक्रान्त हो जावेगा, यद्वा-तद्वा कुछ भी करने का असफल प्रयत्न करेगा; पर उससे कुछ होने वाला तो है नहीं, होगा तो वही जो होना है।

हो सकता है दोनों ही भगवान का स्मरण करने लगें, णमोकारमन्त्र पढ़ने लगें, दोनों ही निर्भय दिखाई दें। देखनेवालों को दोनों एक से ही दिखाई देंगे; जबकि उन दोनों के भावों में महान अन्तर है; क्योंकि दोनों की निर्भयता का आधार अलग-अलग है।

अज्ञानी सोचता है – मैं णमोकारमन्त्र पढ़ रहा हूँ, भगवान का स्मरण कर रहा हूँ – इसके प्रभाव से अभी देवता आवेंगे और मुझे बचा लेंगे। क्योंकि उसने शास्त्रों में ऐसी कथाएँ पढ़ रखीं हैं; जिनमें ऐसे लिखा था कि कोई धर्मात्मा संकट में था, उसने णमोकारमन्त्र का स्मरण किया और देवताओं ने आकर उसकी

रक्षा कर ली। उसी के आधार पर वह भी आशा लगाये बैठा है, जोर-जोर से णमोकारमन्त्र पढ़ रहा है, ऊपर से निर्भय दिखाई देता है, पर अन्दर से भयाक्रान्त है; क्योंकि उसे यह भी तो पक्का विश्वास नहीं है कि देवता आवेंगे ही। यदि नहीं आये तो .....? यह कल्पना ही उसे आन्दोलित किए है। यदि कोई दूसरा उपाय दिखाई देता तो वह निश्चितरूप से णमोकारमन्त्र के भरोसे नहीं बैठा रहता, जान जोखिम में नहीं डालता। उसे णमोकारमन्त्र पर भी पक्का भरोसा नहीं है, उस पर विश्वास करना उसकी मजबूरी है, इसीलिए निर्भय नहीं रह पा रहा है।

णमोकारमन्त्र पढ़ने से कभी किसी धर्मात्मा की रक्षा करने देवता आ गये थे – यह पौराणिक आख्यान सत्य हो सकता है, इसमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है; पर इससे यह नियम कहाँ से सिद्ध होता है कि जब-जब कोई संकट में पड़ेगा और वह णमोकारमन्त्र बोलेगा; तब-तब देवता आवेंगे ही, अतिशय होगा ही?

शास्त्रों में तो जो घटा था, उस घटना का उल्लेख मात्र है। उसमें यह कहाँ लिखा है – ऐसा करने से ऐसा होता ही है। यह तो इसने अपनी ओर समझ लिया है। अपनी इस समझ पर भी इसको विश्वास कहाँ है? विश्वास होता तो आकुलित क्यों होता, भयाक्रान्त क्यों होता?

ज्ञानी भी णमोकारमन्त्र पढ़ रहा है, शान्त भी है; पर उसकी शान्ति का आधार णमोकारमन्त्र पर यह भरोसा नहीं कि 'हमें बचाने कोई देवता आवेंगे।' णमोकारमन्त्र तो वह सहज अशुभ भाव से तथा आकुलता से बचने के लिए बोलता है। उसकी निर्भयता का आधार तो ये पंक्तियाँ हैं कि – हमकौं कछु भय ना रे .....।

वह इस आशा में निर्भय नहीं है कि देवता बचा लेंगे; बल्कि इस आधार पर निर्भय है कि मृत्यु रूपी कार्य का स्व-काल आ गया

होगा तथा ऐसी ही होनहार होगी तो यह सिंह तो मेरी मृत्यु रूप कार्य का मात्र अनुकूल निमित्त कहा जायेगा। यदि इस समय मरना होगा तब तो मरूँगा ही, कोई बचा नहीं सकता और नहीं मरना होगा तो कोई मार नहीं सकता। यदि मरने का समय आ गया होगा तो उसे कोई टाल नहीं सकता और नहीं आया होगा तो बलात् कोई ला नहीं सकता। यदि इसी निमित्त से मरना होगा तो कोई बदल नहीं सकता और इस निमित्त से नहीं मरना होगा तो कोई मार नहीं सकता।

ज्ञानी ने तो द्रव्यस्वभाव के समान पर्यायस्वभाव को भी अच्छी तरह जान लिया है। **'जान लिया संसार'** का यही भाव है। उसी के आधार पर वह निश्चिन्त है।

उसे न द्रव्यस्वभाव में परिवर्तन की कोई इच्छा है और न पर्यायों के परिवर्तन में दखल करने का कोई आग्रह है। थोड़ी–बहुत व्याकुलता दिखाई भी दे, तो समझना चाहिये कि यह चारित्र की कमजोरी है, श्रद्धान का दोष नहीं; क्योंकि उसकी श्रद्धा तो निर्दोष द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर पूर्ण निर्दोष हो गई है।"

विनीता बोली – "यहाँ यह शंका होती है कि – जो नियति है, जैसी होनहार है, वह होकर ही रहती है। तथा जिस क्षण जो कार्य होना है, वह उसी क्षण में ही होता है। उसे इन्द्र व जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते हैं और न उस कार्य को उसके स्व-समय से आगे-पीछे ही कर सकते हैं तो यथाशीघ्र आत्मकल्याण करने की प्रेरणा देने का उपदेश क्या निरर्थक साबित नहीं होगा ?

जब जगत के समस्त जीव होनहार और स्व-काल समवाय के हाथ की कठपुतली ही बन गये तो अब उन्हें स्वतन्त्रपने पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रह जाती है ? इसमें तो जीवों को उपर्युक्त दोनों समवायों की पूरी-पूरी परतन्त्रता ही दृष्टिगोचर होती है।

फिर सर्वज्ञदेव द्वारा की गई, उस जन-जन एवं कण-कण की स्वतन्त्रता की घोषणा का क्या होगा ?"

"अरे विनीता ! ऐसी बात नहीं है। जरा सोचो ! 'जो होना है, सो निश्चित है' – यह बात भी अनन्त केवलज्ञानियों के ज्ञान में आई हुई एवं तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा कही गई बात है। अतः प्रत्येक बात पर प्रश्न चिह्न लगाने के बजाय परस्पर विरुद्ध लगनेवाली बातों पर गम्भीरता से विचार करना अपेक्षित है। वस्तुतः इस वस्तु के नियत-क्रम में होने वाले परिणमन के निर्णय और श्रद्धान करने में ही अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है। अतः पुरुषार्थ के लोप होने की कोई बात ही नहीं है।

इस बात का निर्णय व निश्चय करके उस पर श्रद्धा करना सर्वज्ञता और तीर्थंकर की दिव्यध्वनि पर श्रद्धा करना है; अपने आपमें स्वयं अनन्त पुरुषार्थ का काम है और इस बात को न मानना सर्वज्ञ भगवान का अवर्णवाद है। 'परद्रव्यों में स्वेच्छानुसार परिवर्तन करने के मिथ्या अहंकार में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है। अरहन्त भगवान भी जगत के ज्ञाता-द्रष्टा ही हैं, कर्त्ता-भोक्ता नहीं हैं तो क्या इससे उनका अनन्त पुरुषार्थ परिमित हो जाता है ? नहीं, कदापि नहीं; तीर्थंकर भगवान का अनन्त पुरुषार्थ निज में है, निज के लिये है; पर में कुछ भी परिवर्तन करे – ऐसी शक्ति तो अनन्त वीर्य के धनी परमात्मा में भी नहीं है। अन्यथा प्रत्येक परमाणु की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर प्रश्न चिन्ह लगता है।

देखो, पुरुषार्थ जीव के वीर्य गुण की पर्याय है, इसलिए जीव के पुरुषार्थ का अस्तित्व जीव में ही होता है ! अरहन्त भगवान अपने अनन्त वीर्य के द्वारा अपने अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त ज्ञान का उपभोग करते हैं; परन्तु वे पर में कुछ भी नहीं करते। पर में कोई कुछ करे – ऐसी सामर्थ्य वस्तु के स्वरूप में ही

नहीं है। अतः पर में पुरुषार्थ करने का प्रश्न ही नहीं होता।

स्वभाव, नियति, स्वकाल और निमित्त का यथार्थ स्वरूप समझने में भी तो जीवों को स्वभावसन्मुख होने का, सर्वज्ञ स्वभाव को समझने का, अकर्त्ता-अभोक्ता स्वभावी आत्मा को जानने-पहचानने का तथा निमित्तों के अकिंचित्करत्व को समझने का प्रयत्न करना पड़ता है। यही तो ज्ञाता का ज्ञानरूप पुरुषार्थ है।

इन सबकी सही समझ व श्रद्धा भी तो सहज कार्य नहीं है। जिसे अनादि से पर के कर्तृत्व की ही मान्यता रही हो, उसे सही दिशा में जानने रूप सम्यक् पुरुषार्थ तो करना ही होगा। इसके बिना तो समवायों के स्वरूप की प्रतीति ही नहीं होगी।

जो लोग पाँचों समवायों की स्वीकृति में पुरुषार्थ लुप्त होने की बात करते हैं, सचमुच वे पुरुषार्थ की परिभाषा से ही अपरिचित हैं। वे तो केवल बाहर में कुछ उठा-पटक करने या पर-पदार्थों में परिवर्तन करने में अपना पसीना बहाने को ही पुरुषार्थ समझते हैं। पैसा कमा लिया, मकान बना लिया, कारखाने खोल लिये, नेतागिरी कर ली, धर्म के नाम पर पैसा पानी की तरह बहा दिया, सन्तानों को पढ़ा-लिखा कर धन्धे से लगा दिया। बस, यही उनकी समझ में पुरुषार्थ का स्वरूप है। जबकि जीव का पुरुषार्थ मात्र स्वयं में ही चलता है, पर में नहीं।

जो नियति और होनहार पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं, वे वस्तुतः सर्वज्ञता की सत्ता पर ही प्रश्न चिह्न लगाते हैं। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान की त्रिकालज्ञता पर प्रश्न चिह्न लगाकर वे कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हैं। वे पूरे जिनशासन पर ही प्रश्न चिह्न लगाने का दुःसाहस कर रहे हैं।

यहाँ नियति के प्रकरण में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि – यद्यपि नियतक्रम को मुख्य करके यह कहा है कि – प्रत्येक

द्रव्य की पर्यायें नियत क्रम से होतीं हैं; परन्तु इसका आशय यह है कि 'जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थपूर्वक जैसी होनी है; उस द्रव्य की वही पर्याय, उसी काल में उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थपूर्वक, वैसी ही होती है, अन्यथा नहीं'; क्योंकि कार्य के सम्पादन में पाँचों समवाय एक साथ होते हैं।"

निजानन्द का स्पष्टीकरण सुनकर विनीता ने साहस जुटाकर कहा – "क्या इसका कोई आगम आधार है ?"

"हाँ, हाँ; क्यों नहीं, एक नहीं; अनेक आगम प्रमाण मिल जायेंगे। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१, ३२२ एवं ३२३ में साफ-साफ लिखा है कि –

जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है; उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र तक नहीं टाल सकते।

इसप्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है; वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

एक दो जगह नहीं अनेक जगह ऐसा प्रतिपादन है। सुनो! पद्मपुराण, सर्ग ११० में कहा है –

'जिसे जहाँ, जिस कारण से, जिसप्रकार से, जो वस्तु प्राप्त होनी होती है; उसे, वहाँ, उसी कारण से, उसीप्रकार से, वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है।'

और भी सुनो !

जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे ॥

समयो एक बढ़ै नहिं घटसी, जो सुख-दुःख की पीरा रे ।
तू क्यों सोच करै मन कूड़ो, होय वज्र ज्यों हीरा रे ।।"

यह सब सुनकर विनीता बहुत प्रभावित हुई।

निजानन्द ने कहा – "अभी और सुनो ! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका में में पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं – 'सम्यग्दृष्टि के ऐसा विचार होता है कि वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जाना है, वैसा निरन्तर परिणमता है। इष्ट-अनिष्ट मान कर दुःखी-सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचार से दुःख मिटता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है।

तथा सम्यग्दृष्टि के ऐसा निश्चय है कि – जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जन्म, मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख होना जिनेन्द्र भगवान ने दिव्यज्ञान में जाना है; उस जीव के, उस देश में, उस काल में, उसी विधान से जन्म-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख नियम से होता ही है। उसे दूर करने को कोई इन्द्र-अहमिन्द्र जिनेन्द्र समर्थ नहीं हैं।'

देखो ! इन प्रकरणों में प्रायः सर्वत्र सर्वज्ञ के ज्ञान के आधार पर भविष्य को निश्चित निरूपित किया गया है और होनहार के आधार पर अधीर नहीं होने का एवं निर्भय रहने का सन्देश दिया गया है।"

एक श्रोता ने पुनः प्रश्न किया – "आप के कहे अनुसार तो परद्रव्य के परिणमन में या पर के कार्यों में कोई भी कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता। अपने समय पर जो होना है, वह सब अपने आप ही हो जाता है।

कोई व्यक्ति ऐसा ही विश्वास करके मान लो बीस व्यक्तियों को भोजन का निमन्त्रण देकर चुपचाप हाथ पर हाथ रखकर बैठा रहे तो क्या बिना कुछ किए अपने आप भोजन तैयार हो जायेगा ?"

"अरे भाई ! जरा सोचो तो सही ! जिसे निमन्त्रण करने का विकल्प आयेगा, गारन्टी से वह कोई रागी ही होगा। वह अभी वीतरागी नहीं है, जो हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायेगा। उसे समय पर भोजन बनाने व भोजन कराने के विकल्प भी आयेंगे ही। समय पर व्यवस्था करने का विकल्प भी आये बिना नहीं रहेगा; क्योंकि वस्तु का स्वभाव तो पूर्ण व्यवस्थित होता ही है, उसका विभाव स्वभाव भी पूर्ण व्यवस्थित एवं अपने पाँचों समवायों पूर्वक ही होता है। अरे ! वस्तुस्वरूप में तो अपने व्यवस्थित क्रम में जब जो अवस्था होनी होती है, वही होती है।

देखो, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि – निमन्त्रणकर्त्ता सुन्दरतम भोजन बनाने के लाख विकल्प करे, तथापि विकल्पों के अनुसार वैसी व्यवस्था होनी हो तो हो जाती है और न होनी हो तो नहीं भी होती है। तब वही व्यक्ति हार मानकर यह स्वीकार करते हुए भी तो देखा जाता है कि – 'भाई ! हमने तो कोई कसर नहीं छोड़ी व्यवस्था बनाने में; पर हम क्या करें –ऐसा ही होना होगा।' 'भगवान को यही मञ्जूर होगा।' 'भाई ! होनी को कौन टाल सका है, हमारे-तुम्हारे विकल्प करने से क्या होता है ? आदि'

ऐसी बातों से अपने मन को समझाते हैं न ? परन्तु उनकी श्रद्धा अब भी वैसी ही पर कर्तृत्व की बनी रहती है, इस कारण एक कर्तृत्व के विकल्पों को छोड़ दूसरे कर्तृत्व के विकल्पों में उलझ जाते हैं; परन्तु विकल्पों के अनुसार बाह्य कार्य होते ही हों – ऐसा नियम नहीं है।"

एक श्रोता बोला – "अभी कुछ स्पष्ट समझ में नहीं आया। यदि ऐसा कोई अनुभूत उदाहरण देखने-सुनने या चिन्तन में आया हो तो सरल-सा दृष्टान्त देकर स्पष्ट कीजिए !"

"हाँ, हाँ; सुनो ! एक एकाक्षी राजा था। बचपन में ही

गिल्ली-डन्डा खेलते समय गिल्ली आँख में लग जाने से उसकी एक आँख चली गई थी। एक आँख वाला होने से जनता के बीच मजाक की भाषा में वह इसी एकाक्षी नाम से जाना जाता था।

उस एकाक्षी राजा के बारे में प्रजा में यह प्रसिद्धि भी हो गई थी कि – जो प्रातः सबसे पहले उस राजा का मुँह देख लेता है; उसे उस दिन खाना नहीं मिलता। इस कारण उसके अधीनस्थ कर्मचारी भी सवेरे उठकर सबसे पहले भगवान के दर्शन कर लिया करते। कदाचित् देवदर्शन न मिले तो दर्पण में अपना ही मुख देख लिया करते।

राजा को इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं था। राजा से कोई कहता भी कैसे? राजा का भय जो था। परन्तु ऐसी बातें बहुत समय तक छिपती भी नहीं हैं। धीरे-धीरे यह बात राजा के कान में पहुँच ही गई। जब राजा ने सुना तो उसे अफसोस भी हुआ और आश्चर्य भी; पर इस बात पर उसे विश्वास नहीं हुआ। अतः उसने इस बात की परीक्षा करने के लिए एक कर्मचारी को राजमहल में ही सोने का आदेश दिया और उसके पास से थैले में रखा दर्पण तक जब्त कर लिया। सवेरा होते ही राजा ने उसे स्वयं जगाया, पहले तो वह नीचा मुँह किए बड़ी देर तक आँखें मींड़ता रहा और सोचता रहा अब क्या करूँ ? फिर मजबूरी में मुँह उठा कर राजा के सामने खड़ा हो गया।

राजा ने उदासी का कारण पूछा तो उसे सबकुछ बताना पड़ा। राजा ने गर्व से कहा – "ठीक है कोई बात नहीं। तुम चिन्ता न करो ! आज तुम्हें ऐसा भोजन मिलेगा, जैसा तुमने पहले कभी किया ही नहीं होगा।"

बस फिर क्या था, राजा ने बड़े गर्व से अपनी निजी रसोइन को बुलाया और सख्त आदेश दिया कि "आज रामू यहीं भोजन

करेगा। उसके लिए ऐसा सरस एवं स्वादिष्ट भोजन बनाओ, जैसा उसने आज तक खाया न हो। ध्यान रहे, समय पर बुलाकर प्रेम से भर पेट भोजन कराना।"

रसोइनं मन ही मन बहुत खुश हो रही थी। राजा आज हम पर इतने मेहरबान कैसे हो गये ? जो मेरे पति को भी भोजन के लिए बुलाया और सर्वोत्तम भोजन बनाने को कहा है। उसने पति को ठीक समय पर बुलाया और उत्साह के साथ समय पर खूब भर पेट भोजन कराया।

शाम को राजा राजदरबार में आये और उस कर्मचारी को बुलाकर बड़े गर्व के साथ उससे पूछा – "कहो रामू ! कैसा लगा भोजन ? खूब भरपेट खाया न ? कोई कमी तो नहीं थी ?"

रामू कुछ कहता – उसके पहले ही राजा ने अनेक प्रश्न कर डाले।

राजा ने देखा – रामू मुँह लटकाये सामने वैसा ही उदास खड़ा है, कुछ बोलता ही नहीं तो राजा ने पुनः पूछा – "क्या बात है, बोलता क्यों नहीं ?"

उत्तर मिला – "आज तो अब तक पेट में अन्न का दाना भी नहीं गया। दिन भर प्रतीक्षा ही करता रहा, पर किसी ने भोजन को बुलाया ही नहीं। वहीं बैठा रहा; फिर भी ..... ।"

क्रोध में आग बबूला होकर राजा ने रसोइन को बुलाकर उससे पूछा – "रामू को भोजन .....?"

राजा का वाक्य पूरा ही नहीं हो पाया कि रसोइन बीच में ही बोली – "हाँ साब ! वे तो बारह बजे ही भोजन कर गये। खूब खुश हो रहे थे, आप को दुआयें भी दे रहे थे।"

राजा प्रत्युत्पन्नमति था, बुद्धिमान था। उसे क्षणभर में सब समझ में आ गया, ओह ! इस रसोइन के पति का नाम भी तो रामू

है न ! इसमें इस बेचारी का क्या दोष है ? राजा ने अपनी होनहार को स्वीकार करते हुये अपना माथा ठोक लिया और मन ही मन सोचा – "जो होना होता है, वह होकर ही रहता है, उसे कोई नहीं टाल सकता। हमारा यह कर्तृत्व का अहंकार मिथ्या है।"

राजा ने रामू से कहा – "रामू आज तुझे हमारे मिथ्या अहंकार के कारण जो कष्ट हुआ उसके लिए हमें अफसोस है।"

निजानन्द ने एकाक्षी राजा के उदाहरण से जो स्पष्टीकरण किया, उसे सुन वह प्रश्नकर्ता तो गद्-गद् हुआ ही, सभी श्रेता भी मानो कृतार्थ हो गये। निजानन्द ने अपनी बात का उपसंहार करते हुए कहा – "हमारे-तुम्हारे विकल्पों के अनुसार ही सब कुछ हो जाता हो – ऐसा नहीं है। राजा ने क्या कम विकल्प किये, उस रामू को भोजन कराने के ? अरे ! उसकी तो प्रतिष्ठा का प्रश्न था, फिर भी वह अपने रामू को भोजन नहीं करा पाया।

जो होना होता है, उसी के अनुसार पाँचों समवाय स्वतः मिलते चले जाते हैं। कहा भी है –

'तादृशी जायते बुद्धिः, व्यवसायोऽपि तादृशाः।
सहाया तादृशाः सन्ति, यादृशीः भवितव्यताः।।

तात्पर्य यह है कि – जैसी होनहार होती है; वैसी ही बुद्धि हो जाती है, वैसे ही विचार उठने लगते हैं; उद्यम भी उसी दिशा में होने लगता है तथा सहायक भी वैसे ही मिल जाते हैं।

तीर्थंकर भगवान नेमीनाथ के युग में पूर्व घोषित द्वारिका के जलने की घटना तो आगमोक्त ही है न ! जो बचाने के लाखों प्रयत्न करने पर भी घटकर ही रही।

अतः पूर्व निश्चित घटनाओं में भी पुरुषार्थ के लोप का प्रसंग प्राप्त नहीं होता।

आज समय हो गया, अतः यहीं विराम लेते हैं; शेष कल।"●

सत्तरह

'विधि का विधान अटल है, उसे कोई टाल नहीं सकता। जो घटना या कार्य जिससमय, जिसके निमित्त से, जिसरूप में होना है; वह उसी समय, उसी के निमित्त से, उसीरूप में होकर ही रहता है। उसे टालना तो दूर, आगे-पीछे भी नहीं किया जा सकता; बदला भी नहीं जा सकता। क्षेत्रा से क्षेत्रान्तर भी नहीं किया जा सकता।'

"सरला ! यह सुविचार तुमने हम से तो सुना ही है, अन्य लोगों के मुँह से भी सुना होगा ?" – निजानन्द ने कहा।

"हाँ, सुना है, अनेक बार सुना है। जब मेरे मामा के बेटे की एक दुर्घटना में मौत हो गई तो जो भी सहानुभूति दिखाने और धैर्य बँधाने आते, वे आते ही सब से पहले यही सम्वाद या इसी से मिलता-जुलता कुछ ऐसा ही डायलॉग बोलते थे।"

निजानन्द ने समझाया – "सरला ! यह कोरा 'डायलॉग' नहीं, बल्कि सैद्धान्तिक सुविचार है। इसे डायलॉग कहना सिद्धान्त का अनादर है। ऐसे दुःख के प्रसंग और गम्भीर वातावरण में इसके सिवाय वे-बे-चारे और बात करें तो करें भी क्या ? इस सैद्धान्तिक सम्बोधन से बढ़िया बात और हो भी क्या सकती है, जो उन्हें धैर्य धारण करा सके ?"

सरला ने कहा – "बात तो आप ठीक ही कह रहे हैं। मैं अपने शब्द वापिस लेती हूँ। वहाँ सभी एक जैसा ही बोलते थे, इसकारण मेरे मुँह से ये शब्द निकल गए।"

"कोई बात नहीं, कभी-कभी शब्दज्ञान न होने से भी ऐसा हो जाता है। वैसे 'डायलॉग' का अर्थ भी सम्वाद ही होता है, पर तुमने उसे हल्के स्तर से कहा, इसलिए टोकना पड़ा। अस्तु!

देखो ! चाहे वे ईश्वरवादी हों या निरीश्वरवादी ऑटोमेटिक विश्व-व्यवस्था में विश्वास रखनेवाले जैनी हों। सिद्धान्त रूप से तो सभी स्वयं को अकर्ता ही मानते हैं न ! उनके हाथ में कुछ करना-धरना है भी कहाँ ? ईश्वरवादियों के सब काम ईश्वर करता है और जैनदर्शन के अनुसार भी सभी कार्य अपने-अपने पाँच समवायों से होते हैं। उन्हीं पाँच समवायों में जो भवितव्य, होनहार अथवा नियति समवाय है, वह **सम्यक् नियतिवाद** है। उसके साथ अन्य चारों समवाय भी आ ही जाते हैं। न होनेवाला हो जाये – ऐसा तो कभी होता ही नहीं। जो होता है, वह तो नियत है ही, उस नियत के निर्णय करने में ज्ञाता स्वभाव का **अनन्त पुरुषार्थ** भी है। **स्वभाव** में जो पर्याय थी, वही प्रगट हुई। जितने अंश में निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उतने अंश में जो कर्म का अभाव है, वह **निमित्त** है और वह पर्याय जब होनी थी, तभी हुई, यह उसमें **स्व-काल** नामक समवाय है। इसप्रकार एक कार्य के होने में सभी समवाय आ जाते हैं।"

"आपने अभी-अभी नियति समवाय में सम्यक् विशेषण लगाया, तो क्या नियतिवाद मिथ्या भी होता है ?"

"हाँ, नियतिवाद मिथ्या भी होता है –

१. गोम्मटसार में कहा हुआ नियतिवाद मिथ्या नियतवाद है – यह गृहीत मिथ्यादृष्टियों का नियतिवाद है। ये नियतिवादी अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति से रहित होते हैं तथा सर्वज्ञ स्वभाव की श्रद्धा से भी रहित होते हैं। ये केवल दूसरों से सुन-सुन कर यह कहते हैं कि – जो नियत होगा, वही होगा; किन्तु इन्हें स्वयं को

ऐसी श्रद्धा नहीं होती। ये गृहीत मिथ्यादृष्टि नियतिवादी हैं।

२. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा हुआ नियतिवाद सम्यक् नियतिवाद है – इस सम्यक् नियतिवाद की मान्यतावाले सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव की भावनापूर्वक सर्वज्ञदेव के देखे हुये वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करते हैं। जो जैसा होता है, उसे पर्याय की नियति (होनहार) जानते हुये, उसमें अपने राग-द्वेषरूप विषमभाव नहीं होने देते। ये सम्यक् नियतिवादी हैं।

यह ज्ञानियों का नियतिवाद वीतरागता व सर्वज्ञता प्राप्त करने का हेतु बनता है।

जिसने सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धा पूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया हो कि – सब नियत है, जिस समय जैसा होना है, वैसा ही क्रमबद्ध होता है। मैं तो मात्र उन सबका स्व-पर प्रकाशी ज्ञाता हूँ – ऐसा चिन्तन या विचार सम्यग्दृष्टि का **सम्यक् नियतिवाद** है।

जिसने अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ज्ञायक की रुचि का सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट किया और शुभाशुभ भावों की रुचि छोड़ दी है, उसी ने वस्तुतः सम्यक् नियतिवाद को माना कहा जाता है; क्योंकि इसमें ही चैतन्य का सम्यक् पुरुषार्थ है।"

"स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्य और स्वकाल – इन चार समवायों की विषयवस्तु, स्वरूप एवं इनका कार्य की निष्पत्ति में योगदान – यह सब तो बहुत कुछ स्पष्ट हो गया, समझ में आ गया। इनकी समझ व श्रद्धा से धर्म सम्बन्धी लाभ भी कुछ-कुछ ख्याल में आ गया; परन्तु पाँचवें निमित्त नामक समवाय की चर्चा शेष है। उसकी भी थोड़ी चर्चा हो जाय।"

"हाँ, हाँ; अब निमित्त का ही नम्बर है, परन्तु 'निमित्त' की थोड़ी चर्चा से काम नहीं चलेगा। इसे तो विस्तार से समझना

होगा; क्योंकि इस विषय का लोगों में भारी भ्रम है। वैसे यह समझने में सरल एवं रोचक विषय है, इसे सुनने/समझने में भी तुम्हें आनन्द आयेगा। इन पाँच समवायों में निमित्त भी एक ऐसा समवाय है, जो पर के कार्यों में अकिञ्चित्कर होते हुये भी पर में कर्तृत्व का भ्रम उत्पन्न करता है; क्योंकि कार्य निष्पन्न होने में उसका भी घना सम्बन्ध है।"

"आप कहते हैं कि – निमित्त पर के परिणामों या कार्यों का उत्पादक नहीं है; कार्योत्पत्ति में उसका तो मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु कार्य की उत्पत्ति तो स्व एवं पर के कारण होती देखी जाती है न ? जैसे मिट्टी और चक्र, चीवर आदि से घड़े की उत्पत्ति। अतः दोनों का बराबर ५०% - ५०% सहयोग क्यों न माना जाये ?" – सरला ने प्रश्न किया।

"तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल स्वाभाविक है; क्योंकि कार्योंत्पत्ति में स्व व पर – दोनों का कारणपना बराबर दिखाई देता है।

ऐसा ही प्रश्न राजवार्तिक के पहले अध्याय के दूसरे सूत्र में अकलंकदेव ने भी उठाया है और उसका समाधान भी उन्होंने स्वयं किया है, वे लिखते हैं – **'सिद्धान्ततः बात यह है कि – निमित्त किसी पर के परिणाम का उत्पादक नहीं है; परन्तु उत्पत्ति तो स्व एवं पर के निमित्त से होती देखी जाती है न ? जैसे कि मिट्टी व चक्र-चीवर आदि से घड़े की उत्पत्ति।**

समाधान यह है कि – नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि निमित्त तो उपकरण मात्र होते हैं, केवल बाह्य साधन मात्र होते हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में आत्मपरिणाम ही मुख्य हैं, निमित्त नहीं।'

इसी सन्दर्भ में प्रवचनसार गाथा १८५ का निम्न कथन भी द्रष्टव्य है – **'जो जिसका परिणमन करानेवाला देखा जाता है, वह उसके ग्रहण–त्याग से रहित नहीं देखा जाता। इसलिए आत्मा पुद्गलों**

का कर्मभाव से परिणमित करनेवाला नहीं है; क्योंकि आत्मा पुद्गलों के ग्रहण-त्याग से रहित हैं। जैसे कि – अग्नि लोहे के गोले में ग्रहण-त्याग से रहित है।

बात यह है कि – स्वयं परिणमने वाले द्रव्यों को निमित्त रूप परद्रव्य क्या परिणमावे ? अतः संसार में या मुक्ति में स्वयमेव सुखरूप परिणमित इस आत्मा का विषय क्या कर सकते हैं ? फिर भी 'विषय सुख के साधन हैं' – ऐसी बुद्धि के द्वारा अज्ञानी व्यर्थ ही विषयों का आश्रय करते हैं।'

इस सन्दर्भ में पंचास्तिकाय गाथा ६२ की टीका को भी देखें, वे लिखते हैं कि – 'स्वयमेव षट्कारकों रूप वर्तता हुआ पुद्गल या जीव, अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता।'

और तो ठीक, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के बारे में पञ्चाध्यायीकार ने तो यहाँ तक कह दिया कि –

'यदि कदाचित् कोई यह कहे कि – आत्मा और शरीर में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपना अवश्य है तो उसका इसप्रकार का कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वतः परिणमन करती हुई वस्तु को निमित्त कारण से क्या प्रयोजन है ?'

समयसार गाथा १०५ से १०८ में भी स्पष्ट लिखा है –

'वस्तुतः एक को दूसरे का कर्त्ता कहना व्यवहार व उपचार है, परमार्थ नहीं।'

'जीव निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध का परिणाम होता हुआ देखकर जीव ने कर्म किया – ऐसा उपचार मात्रा से कहा जाता है। जैसे कि – योद्धाओं के द्वारा युद्ध किए जाने पर राजा ने युद्ध किया – इसप्रकार लोक-व्यवहार में कहते हैं, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किया – ऐसा भी व्यवहार से कहा जाता है।'

'आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमन

कराता है और ग्रहण करता है – यह सब व्यवहार नय का कथन है।'

वास्तविक बात यह है कि – व्यवहार से ही निमित्त को कर्ता कहा जाता है, निश्चय से नहीं। एतदर्थ समयसार गाथा ३५५ एवं कलश २१४ का निम्न कथन द्रष्टव्य है – **'एक वस्तु स्वयं परिणमित होती हुई, अन्य वस्तु का कुछ भी कर सकती है – ऐसा जो माना जाता है, सो व्यवहार दृष्टि से ही माना जाता है। निश्चय से इस लोक में अन्य वस्तु को अन्य वस्तु कुछ भी नहीं है।**

निश्चय से प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणाम का कर्ता है, दूसरे का नहीं।'

समयसार कलश २०० में भी लिखा है –

'नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बधाभावे, तत्कर्तृता कुतः।।

परद्रव्य का और आत्मद्रव्य का परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं। इसप्रकार कर्तृ-कर्मत्व सम्बन्ध के अभाव में आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है ?'

पंचास्तिकाय गाथा ६०-६१ में कहा गया है – **'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को निमित्त हो सकता है, पर कर्त्ता नहीं।'**

देखो, गाथा १०५ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कितना स्पष्ट लिखते हैं – उनका यह कथन निमित्त का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है –

'इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी, अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुये अज्ञान भाव में परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है। इसलिए पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया – ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघन से भ्रष्ट विकल्प परायण अज्ञानियों का विकल्प है। वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।'

तात्पर्य यह है कि – कदाचित् होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक भाव में कर्त्ता-कर्म भाव कहना सो उपचार है।"

"आपने शास्त्रीय उद्धरण प्रस्तुत कर हमें सन्तुष्ट करने का प्रयास किया; इससे हमें लाभ तो बहुत हुआ, परन्तु अभी हमारा हृदय पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाया। अतः कुछ अनुभूत लौकिक और पौराणिक उदाहरणों से स्पष्ट करें तो बहुत अच्छा रहेगा।"

"ठीक है, अब हम इसी दिशा में प्रयास करते हैं। देखो, सुख-दुःख जीव के कार्य हैं; क्योंकि वे जीव के सुख गुण स्वाभाविक के विभाव परिणाम हैं तथा वे शुभ-अशुभ कर्मों के निमित्त से होते हैं।"

सरला ने पूछा – "दुःख को जीव के सुख गुण का विभाव परिणाम कहना तो ठीक है; परन्तु सुख तो सुख गुण का स्वभाव परिणाम है न ? सुख को भी विभाव परिणाम क्यों कहा ?"

"प्रश्न तो तुम्हारा समझदारी का है और विचारणीय भी है। लगता है, अब तुम्हारे चिन्तन में बहुत कुछ गहरापन आ गया है। तभी तो ऐसे सूक्ष्म प्रश्न करने लगी हो – बहुत अच्छा !

हाँ तो सुनो ! जिस सुख को हमने विभाव कहा है, वह इन्द्रिय जनित सान्सारिक सुख की बात है; जो है तो वास्तव में सुखाभास ही, परन्तु लोक में उसे भी सुख संज्ञा प्राप्त है। वह सान्सारिक सुख पुण्य के उदय का फल है। पुराणों और शास्त्रों में भी अनेक स्थानों पर शुभ-अशुभ कर्मों को सुख-दुःख का कारण स्पष्ट लिखा है। इन शुभ-अशुभ कर्मों के उदय को शास्त्रों में जीवों के सुख-दुःख का अन्तरंग निमित्त कारण कहा है।"

सरला ने पुनः प्रश्न किया – "एक ओर आप यह कह रहे हैं कि कर्मों का उदय जीव के सुख-दुःख का अन्तरंग निमित्त कारण है और दूसरी ओर आप ही यह कहते हैं कि किसी भी

परद्रव्य में जीवों को सुख-दुःख देने की शक्ति ही नहीं है। दोनों कथनों में किस कथन को सत्य मानें ?"

निजानन्द ने प्रसन्नता प्रगट करते हुए कहा – "अरे ! अब तो तुम पिछले प्रकरणों को याद रखकर उनके साथ वर्तमान कथन का तालमेल भी बिठाने लगी हो। बहुत अच्छा !

सरला ! निमित्तों का कार्य की उत्पत्ति में कितना/क्या योगदान है, यह तो निमित्त की परिभाषा पढ़ने से ही ज्ञात हो जाता है, जो तुमने पढ़ ही ली है। अस्तु - कोई बात नहीं। आज तुम पुनः इस बात को भलीभाँति समझ लो। यह बात कोई साधारण नहीं है, जीवन में बहुत ही उपयोगी है, महत्त्वपूर्ण है।

अनादिकाल से यह अज्ञानी जगत अपने सुख-दुःख का कर्तृत्व बाह्य निमित्त कारणों को ही मानकर उन पर ही दोषारोपण करके उनसे राग-द्वेष करता रहा है। उन्हें ही अपने भले-बुरे का कर्ता मानकर निरन्तर उनमें इष्टानिष्ट कल्पनायें करके राग-द्वेष की आग में जलता-भुनता रहा है। अतएव आचार्यों ने उन जड़-चेतन संयोगों पर से दृष्टि हटाने के लिए यह कहा कि – हे मानव ! तू इन स्त्री-पुत्रादि परिवारजनों को एवं पड़ौसी आदि को दुःख का कारण मानकर इन पर व्यर्थ ही राग-द्वेष क्यों करता है ?

वस्तुतः ये बाह्य संयोग तेरे दुःख के कारण नहीं हैं। तेरे सुख-दुःख के कारण तो तेरे द्वारा किए गये पुण्य-पाप कर्म हैं। इसतरह बाह्य संयोगों पर से दृष्टि हटवाकर अन्तरंग निमित्त कारणों पर लाये हैं; ताकि आमने-सामने की सीधी लड़ाई तो समाप्त हो एवं परिजनों-पुरजनों पर से राग-द्वेष भी कम हो। जब अज्ञानी कर्मों को ही सच्चा कारण मानकर उन्हें कोसने लगा तो वहाँ से भी दृष्टि हटाने के लिए अपनी भूल को कारण कहा।"

सरला से रहा नहीं गया, वह बीच में ही बोली – "आपके

कहे अनुसार ही – जब जड़ (अचेतन) कर्मों में 'सुख' नाम का गुण ही नहीं है तो उन्हें सुख-दुःख का दाता कहा ही क्यों ?सरासर असत्य कहने से क्या प्रयोजन ?"

"वैसे शास्त्रीय आधार तो शास्त्रों में हैं ही और खोजने पर मिल भी जायेंगे; परन्तु हम अभी यहाँ एक लौकिक उदाहरण से तुम्हें यह बात समझाने का प्रयत्न करते हैं।"

निजानन्द ने आगे कहा – "देखो, जब-जब जीवों को क्रोधादि कषायें और विषय भोगने के भाव उत्पन्न होते हैं, तो उनके निमित्त के रूप में कोई बाह्य वस्तु अवश्य होती है, जिन्हें देखकर उन्हें क्रोधादि कषायें एवं विषय-विकार उत्पन्न होते हैं।

तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ जन अपने सुख-दुःख के कारण उन्हीं बाह्य वस्तुओं को अथवा अपने मित्र-शत्रु, कुटुम्ब-परिवार, पड़ौसी एवं धंधे-व्यापार और राज-काज के सम्पर्क में आये व्यक्तियों को मानते हैं और निमित्त रूप में वे ही अपने आमने-सामने रहते हैं; इस कारण उन्हें देख-देख हम राग-द्वेष की ज्वाला में, क्रोधाग्नि में जलते रहते हैं तथा बदले की भावना से ओत-प्रोत होकर निरन्तर आकुल-व्याकुल होते रहते हैं; जो भविष्य में भी अनन्त दुःख एवं कुगति के कारण बनते हैं। उनके निमित्त से न केवल संक्लेश करते हैं, सामने पत्थर पड़ा हो तो क्रोधावेश में उसे ही उठाकर मार भी देते हैं। हाथ में डन्डा हो तो वह भी जड़ देते हैं।

दुर्भाग्य से यदि दो क्षत्रिय लड़ते हैं तो गोलियाँ तक चल जातीं हैं, तलवारें खिंच जातीं हैं। परिणाम होता है – एक जेल में है और दूसरा या तो सीधा श्मशान में पहुँच गया होता है या फिर अस्पताल में कराह रहा होता है।

दो विवेकी बनियों में तू-तू मैं-मैं हो जाय तो वे आक्रमण करने के लिए सदा जमीन में गड़ा हुआ पत्थर ही उखाड़ेंगे, भले

ही वहाँ आस-पास में सैंकड़ों उखड़े पत्थर क्यों न पड़े हों !

क्या आप में से कोई बतायेगा कि वह विवेकी बनिया ऐसा क्यों करता है ? वह उखड़े पत्थर उठा कर क्यों नहीं मार देता ?"

"हाँ, हाँ; मैं बताती हूँ। वह जैनी बनिया विवेकी जो है। यद्यपि वह जानता है कि पास में उखड़ा पड़ा पत्थर उठाकर मारना सरल है, फिर भी वह गड़ा पत्थर ही उखाड़ने की चेष्टा करता है; क्योंकि उखड़ा पड़ा पत्थर उठाकर मारने से उसे चोट लगने पर लड़ाई बढ़ भी सकती है। पत्थर के बदले में वह भी तो मुझे पत्थर मारेगा। परिणामस्वरूप दोनों में से कोई एक मारने के अपराध में जेल जायेगा तो दूसरा घायल होकर अस्पताल में। अतः वह जानबूझ कर गड़ा पत्थर उखाड़ने का नाटक करके उसे भागने का अवसर देता है, सोचने का समय देता है।

वह सोचता है कि 'जब तक मैं गड़ा पत्थर उखाड़ने का नाटक करूँगा, तबतक या तो वह डरकर स्वयं ही भाग जायेगा, अन्यथा वहाँ उपस्थित मध्यस्थ लोग बीच में पड़कर हम दोनों को अगल-अलग कर अपने-अपने घर पहुँचा देंगे और हम दोनों लड़ाई-झगड़े की झंझट से मुक्त हो जाएंगे।'

जो विवेकी हैं, वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह क्रोधावेश तो क्षणिक विकारी पर्याय है, जो क्षण भर में विलय हो जायेगी। इसके भरोसे अपने हाथ-पैर तुड़वाने एवं दूसरे के अंग-भंग करने में क्या लाभ ? अतः वह जानबूझ कर गड़ा पत्थर उखाड़ता है।"

निजानन्द ने कहा – "ठीक ! यही विवेक का कार्य हमारे आचार्यों ने किया है। उन्होंने भी अन्तरंग अदृश्य कर्मों को कारण बताकर परिजन-पुरजनों पर हो रहे राग-द्वेष को कम करने का प्रयास किया है। ये अड़ौसी-पड़ौसी तो निमित्त मात्र हैं, इन्होंने तेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ा, तू इन पर राग-द्वेष क्यों करता है ? जब

तेरे असाता कर्म के उदय में दुःख की पर्याय आनी होती है, तब ये जो बाह्य पदार्थ दुःख के अनुकूल होते हैं, उन्हें दुःख का दाता या दुःख का निमित्त, एवं जो सान्सारिक सुख में निमित्त होते हैं, उन्हें सुख का दाता या सुख का निमित्त कहा जाता है। ये स्वयं सुख-दुःख के कारण नहीं हैं; क्योंकि इनमें सुख-दुःख देने की शक्ति ही नहीं है तो दूसरे को सुख-दुःख देंगे कहाँ से ?

यदि पर के द्वारा सुख-दुःख दिये जाते हों, तो स्वयं कृत पुण्य-पाप सब निरर्थक सिद्ध होंगे। अतः परपदार्थों पर से दृष्टि उठाओ, वे संयोग कोई भी सुख-दुःख के कारण नहीं हैं।

लेकिन ऐसा सुनकर कुछ अज्ञजन कर्मों को कोसने लगते हैं, कर्मों को बुरा-भला कहने लगते हैं तो कर्मों पर से भी उनकी दृष्टि हटाने के लिए उनसे यह कहा गया है कि –

कर्म बिचारे कौन ? भूल तेरी अधिकाई ।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई ॥

जरा सोचो ! इन कर्मों का कर्त्ता कौन है ? स्वयं जीव ही है न ? यदि यह जीव अपने अज्ञान के कारण परपदार्थों में इष्टानिष्ट मिथ्या कल्पना न करता, राग-द्वेष न करता तो कर्मों का बन्ध होता ही क्यों ? अतः इसमें तो जीव की स्वयं की ही भूल है, जो वृथा राग-द्वेष करता है। कर्मों का तो कोई दोष ही नहीं है। इसप्रकार परपदार्थों एवं कर्मों पर से दृष्टि उठवाई है।

तब फिर वह अज्ञानी जीव अपनी भूल का पश्चाताप कर-करके दुखी होने लगा। अपने राग-द्वेष को भला-बुरा कहने लगा। तो आचार्य ने फिर करुणा करके उस अज्ञानी जीव को समझाया–

"अरे प्रभो ! तुम तो निर्भूल स्वभावी अनादि-अनन्त, परमात्म स्वरूप, कारण परमात्मा हो; तुम्हारे स्वभाव में भूल कहाँ है ? यह भूल तो ज्ञान और श्रद्धा का एक समय का विपरीत परिणमन है।

जो व्यक्ति अपने उस त्रिकाली निर्भूल स्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मानुभूति कर लेते हैं, उनकी वह भूल भी क्षणभर में विलीन हो जाती है। जो राग-द्वेष रूप भूल तुम्हें इतनी भारी-भयंकर दिखती है, वह आत्मा के **स्वभाव के आश्रय से** एक क्षण में कहाँ गायब हो जायेगी, तुम्हें पता भी नहीं चलेगा। अतः **सब चिन्ताओं से मुक्त हो जाओ और स्वरूप-सन्मुख होने का पुरुषार्थ करो।"**

निजानन्द ने आगे कहा – "निमित्तों को कार्य का कर्त्ता या यथार्थ कारण मानने वालों को यह भी सोच लेना चाहिए कि इस मान्यता में और क्या-क्या अनर्थ हो सकते हैं ? उदाहरणार्थ निम्न कथन प्रसंग द्रष्टव्य हैं –

(१) भगवान की भव्य बहुमूल्य मूर्तियाँ चोरों को चोरी में निमित्त बनतीं हैं, निमित्त को कर्त्ता मानने वालों के अनुसार चोरी की निमित्त कर्त्ता तो वे भव्य मूर्तियाँ हैं। फिर चोरों को दण्ड क्यों दिया जाता है ? मूर्तियों का ही अपराध क्यों न माना जाय क्योंकि उन्होंने चोरों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित किया है ?

(२) नग्न दिगम्बर प्रशान्त मुद्रा के धारी मुनिराज को देखकर राजा श्रेणिक को ऐसा क्रोध आया कि उसने मुनिराज के गले मे मरा सर्प डाला। यदि निमित्त को कर्ता मानें तो वे मुनिराज क्रोध के कर्त्ता सिद्ध होंगे – ऐसी स्थिति में राजा श्रेणिक को नरक क्यों जाना पड़ा ? क्रोध के निमित्त कारण तो मुनिराज थे।

(३) शत्रु को देखते ही उसके निमित्त से क्रोध के वशीभूत हो उसके शत्रु (गुण्डे) ने गोली मार दी; इसमें उस गुण्डे का क्या दोष है ? निमित्त कर्त्ता तो शत्रु का सामने आना है, फिर गुण्डे को जेल क्यों होती है ?

(४) सर्वांग सुन्दरी – कामिनी को देखकर किसी भी कामी पुरुष को काम-वासना जागृत हो सकती है, हो क्या सकती है,

होती ही है। यदि वह कामिनी ही उसकी काम-वासना की निमित्त कर्त्ता है तो फिर कामिनी को ही दण्ड क्यों नहीं दिया जाता ? बेचारा कामी पुरुष ही दण्ड का पात्र क्यों माना जाता है ?

इसीतरह और भी जहाँ-जहाँ निमित्तों को कार्य का यथार्थ कारण या कर्त्ता माना जायेगा, वहाँ ऐसे ही अर्थ के अनर्थ होंगे।

वस्तुतः निमित्तरूप परपदार्थ किसी भी पर के कार्य का वास्तविक कारण नहीं है। उसकी तो उपस्थिति होने के कारण व्यवहार से उसे कार्य का उपचरित कारण कहा जाता है।

यह तो लोक सम्मत सत्य ही है कि – जो कारण अथवा कर्त्ता होता है, फल भी वही भोगता है। यदि ऐसा न माना जाए तो सम्पूर्ण लोक व्यवस्था ही भंग हो जावेगी; क्योंकि जो अपराध करे, उसका दण्ड भी तो उसे ही मिलना चाहिए। अतः यदि निमित्त ही हमारे विकार आदि कार्यों के कर्त्ता या कारण हों तो निमित्तों को ही दण्ड के पात्र बनना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता। दण्ड हमेशा उपादान को ही मिलता है। जब उपादान को ही दण्ड मिलता है तो क्यों न उपादान को ही कार्य का असली कर्त्ता या यथार्थ कारण माना जाए ?"

सरला ने कहा – आपने आगम, युक्तियाँ एवं उदाहरण देकर इतना अच्छा समझाया कि कर्मों को कारण क्यों कहा ? यह बात बहुत अच्छी स्पष्ट हो गई, इसमें अब कुछ भी कहने की गुञ्जाइश नहीं है; परन्तु.....!

निजानन्द ने कहा – मैं तुम्हारे परन्तु का मतलब समझ गया, पर अब शेष चर्चा कल।

●

अठारह

वस्तु जैसी होती है, वैसी दिखती नहीं; जैसी दिखती है, वैसी परिणमती नहीं !

वस्तु है स्वतन्त्र, स्वाधीन। और दिखती है परतन्त्र, पराधीन, निमित्ताधीन। वस्तु दिखती है निमित्ताधीन और परिणमती है स्वाधीन, अपने-अपने स्व-काल में अपने स्व-चतुष्टय से। कर्मों या निमित्तों के कारण नहीं परिणमती।

सरला ने सोचा – "वस्तु भी कैसी विचित्र है ? होती है कुछ और दिखती है कुछ।

यदि वस्तु का स्वरूप सचमुच ऐसा ही स्वाधीन है तो फिर अच्छे-अच्छे ज्ञानी – समझदार व्यक्ति भी वस्तुओं को अपने अनुकूल परिणमाने के लिए तदनुकूल निमित्तों को मिलाने का अनावश्यक श्रम और चिन्ता क्यों करते हैं ?"

सोचते-सोचते जब सरला से यह गुत्थी नहीं सुलझी तो उसने अपना यह मनोभाव निजानन्द के समक्ष प्रगट किया।

निजानन्द सरला के मनोभावों को सुनकर और उसके इस गम्भीर चिन्तन को देखकर भारी प्रसन्न हुआ। उसने कहा – "सरला ! सुनने में ये बातें कुछ अटपटी-सीं जरूर लगतीं हैं; परन्तु जब वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है तो कोई इसमें कर भी क्या सकता है ? वस्तु के स्वरूप में किसी का कोई तर्क नहीं चलता।

पानी शीतल क्यों है ? अग्नि उष्ण क्यों है ? यदि कोई यह

पूछे तो इसका एक यही उत्तर तो होगा कि – इनका स्वभाव ही ऐसा है। इसमें क्यों/कैसे का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु पर से ऐसी निरपेक्ष है और स्वयं में ऐसी परिपूर्ण है कि – उसे कार्यरूप परिणत होने के लिए किसी पर के सहयोग की किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं होती। जब अपने में कुछ कमी हो तो बाहर से पूर्ति करे और अधिक हो तो दूसरे को दे सके; परन्तु प्रत्येक वस्तु ऐसी परिपूर्ण है कि न उसे बाहर से, अन्य द्रव्यों से कुछ आयात करना है और न अन्य द्रव्यों के लिए कुछ निर्यात करना है।

हाँ, दो द्रव्यों में सहज निमित्त-नैमित्तिक स्वतन्त्र सम्बन्ध अति घने होते हैं। इसकारण वे पराधीन से प्रतीत होते हैं, परतन्त्र दिखाई देते हैं; जबकि दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवार होती है। इसकारण दो द्रव्यों में एक-दूसरे का सहयोग करना सम्भव ही नहीं होता।

तत्त्वज्ञानी ऐसा जानते हैं कि दवा एवं रोग के बीच अन्योन्याभाव है तथा स्व-समय में ही रोग ठीक होगा; फिर भी उन्हें उनकी भूमिकानुसार रोगोपचार हेतु अनुकूल औषधि आदि निमित्त मिलाने का भाव भी सहज ही आता है। जिनके उपादान में स्वस्थ होने का समय आ जाता है, उन्हें बाहर में अनुकूल दवा का एवं योग्य डॉक्टर का निमित्त मिल जाता है तथा अन्तरंग निमित्त कारण के रूप में वैसा ही पुण्योदय का योग बन जाता है। तथा जिनका निरोग होने का स्व-काल नहीं आता – उनको वही दवा निरर्थक होती देखी जाती है।

इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि निःसन्देह निमित्तरूप परद्रव्य न कार्य का कर्त्ता है और न यथार्थ कारण ही है। हाँ, फिर भी निमित्त-नैमित्तिक सहज सम्बन्ध को व्यवहार से कारण कहा

जाता है। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, उस अपेक्षा का यथार्थ ज्ञान होने पर कहीं/कोई झगड़ा नहीं रहता।

यदि निमित्त पर में (उपादान में) कुछ भी करने को समर्थ हो तो अनेक ऐसे प्रश्न उपस्थित होंगे, जिनका समाधान करना ही सम्भव नहीं है। जैसे कि –

* नरकों में वेदना, जातिस्मरणादि को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में निमित्त कहा है; पर वेदना तो सभी नारकियों को हर समय है, सबको सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता ?

* क्षायिक सम्यक्त्व केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में होता है; तो फिर समवशरण में स्थित सभी जीवों को क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं होता ?

* एक ओर सीताजी की अग्निपरीक्षा में सामान्य शील के प्रभाव से अग्नि का जल हो गया और दूसरी ओर अठारह हजार प्रकार से शील का पालन करने वाले भावलिंगी सन्तों (पाँचों पाण्डवों) के अग्निमय लोहपिण्ड ठण्डे क्यों नहीं हुए ? वे क्यों जल गए ?

* आदिनाथ भगवान जैसा समर्थ निमित्त पाकर भी मारीचि मिथ्यादृष्टी कैसे बना रहा ? वह क्यों नहीं सुलटा और भगवान आदिनाथ उसे क्यों नहीं समझा पाये ?

यदि उपर्युक्त सभी बातों पर शान्ति से विचार किया जाय, सहज कारण-कार्य व्यवस्था को निमित्त-उपादान के सम्बन्ध में समझने का प्रयास किया जाय तो दृष्टि में निर्मलता आ सकती है, राग-द्वेषोत्पादक निमित्ताधीन दृष्टि समाप्त होकर स्वावलम्बन द्वारा साम्यभाव जाग्रत हो सकता है।"

सरला ने निजानन्द के कथन पर पूर्ण सन्तोष और सहमति व्यक्त करते हुए कहा – "बात तो बिल्कुल ऐसी ही प्रतीत होती है।

अब मुझे इस विषय में जरा भी सन्देह नहीं रहा; परन्तु अब मेरे मन में विकल्प यह उठता है कि – इतना अच्छा सिद्धान्त मात्र बौद्धिक व्यायाम तक ही सीमित न रह जाय। अतः ऐसा कोई उपाय बताइये, जिससे यह हमारे सुखी जीवन का रहस्य साबित हो सके।"

"हाँ, हाँ; सरला ! तुम्हारा विकल्प अपनी जगह बिल्कुल सही है; तुम ठीक ही कह रही हो कि – 'यह चर्चा मात्र चर्चित होकर ही समाप्त नहीं होना चाहिए, इसे हमारे चिन्तन एवं चर्या का विषय बनना चाहिए, तभी इससे धर्मलाभ होगा।'

तुम चिन्ता न करो; तुम्हारा विकल्प अवश्य पूरा होगा; क्योंकि यह भी ध्रुव सत्य है कि जिस सिद्धान्त का सही ज्ञान हो जाता है, सही श्रद्धान हो जाता है, जिसकी लगन लग जाती है, वह बारम्बार विचारों में आने लगता है, चिन्तन की प्रक्रिया में भी चढ़ जाता है। परिणाम यह होता है कि – उसका परिणमन भी धीरे-धीरे वैसा ही होने लगता है। फिर देर भले हो, अन्धेर नहीं होता।

तुम स्वयं को ही देख लो न ! जब कॉलेज में तुम्हारी लगन मुझसे लग गई थी तो मैं तुम्हें बार-बार याद आता था या नहीं ? और धीरे-धीरे वही लगन ब्याह में बदली या नहीं ? भले तुम्हें इसके लिए कितने ही पापड़ बेलने पड़े, अपने पापा और परिवार से संघर्ष करना पड़ा, पर अन्ततः मैं तुम्हें प्राप्त तो हुआ ही न ! "

सरला शरमा गई। उसकी निगाहें नीची हो गईं और वह मन ही मन मुस्कराने लगी।

निजानन्द ने आगे कहा – "जब यह ज्ञान और श्रद्धान हो गया है कि – सम्पूर्ण परद्रव्य अन्य परद्रव्यों के लिए अकिञ्चित्कर हैं तो फिर आत्मा का ज्ञानोपयोग उन निमित्तरूप परद्रव्यों में अटकेगा ही क्यों ? कदाचित् पूर्व संस्कारवश या पुरुषार्थ की कमी के कारण उपयोग बहिर्मुखी होगा भी तो भी श्रद्धा-ज्ञान सही

होने से धीरे-धीरे पर कर्त्तृत्व के संस्कार भी ढीले पड़ेंगे ही। फिर तो स्वरूपसन्मुखता के पुरुषार्थ में देर भले हो, पर अन्धेर तो नहीं होगा। तत्सम्बन्धी निराकुलता हो जाने से थोड़ा बहुत धर्मलाभ तो तत्काल मिलने लगेगा। जीवन में सुख-शान्ति का अनुभव तो होगा ही। परजीवों के प्रति राग-द्वेष भी कम होने लगेंगे।

जिसप्रकार धरती में गड़े हुए धन का ज्ञान हो जाय, उसकी प्रतीति हो जाय तो मानसिक दरिद्रता का अन्त तो तत्काल हो ही जाता है, आवश्यकता की पूर्ति भले कुछ काल बाद हो; उसीप्रकार आत्मा के अनन्त गुणों एवं अनन्त शक्तियों का परिचय एवं प्रतीति हो जाय तो आंशिक रूप से आत्मिक आनन्द का स्वाद तो तत्काल आ ही जाता है, मानसिक रूप से अनन्त दुःख तो दूर हो ही जाता है। दैहिक दुःख दूर होने में भले देर हो जाय।

हाँ, जबतक अज्ञानियों को उसका परिचय नहीं होता, तबतक वे सदैव प्यासे पपीहे की भाँति दैन्यभाव से उन निमित्तरूप बादलों की ओर टक-टकी लगाये देखते रहते हैं, जहाँ सुख का नामो-निशान ही नहीं होता।"

सरला ने विनम्र भाव से निवेदन किया – "आपका कहना सही है। मैंने भी ऐसा ही अनुभव किया है। अब आप कुछ ऐसे प्रयोग बतायें, जिनसे व्यक्ति घर-परिवार में आनेवाले अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों के समय होनेवाले लड़ाई-झगड़ों से बच सके।"

निजानन्द ने कहा – "जो जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को श्रद्धा से सुनता है, समझता है, सीखता है, चिन्तन-मनन करता है, उसके जीवन में भूमिकानुसार परिवर्तन भी अवश्य ही होता है।"

सरला ने कहा – "यह तो मैं आप से ही पहले भी सुन चुकी हूँ; परन्तु बीसों वर्ष सुनने-समझने वालों को भी मैंने लड़ते-

झगड़ते देखा है। क्या ऐसा भी कोई उदाहरण आपकी नजर में है, जिसने सुनकर समझकर तदनुसार परिणमन भी किया हो ?"

"हाँ, हाँ; दूर क्यों जाती हो ? अपनी बचपन की सहेली इस अनीता को ही देख लो न ! इसके बारे में यह तो तुम्हें पता होगा ही कि – कुछ दिन पहले तक भी यह पूरी नास्तिक थी !"

"हाँ, यह तो मेरी क्लासफेलो भी रही है। उस समय तो यह सचमुच नास्तिक ही थी। बाद में पता नहीं, इसके जीवन में यह परिवर्तन कब/कहाँ/कैसे हुआ ? यदि आपको कुछ मालूम हो तो अवश्य बताइये।" – सरला ने निवेदन किया।

निजानन्द ने कहा – "मैं क्यों कहूँ ? जब अनीता है तो वह स्वयं ही कहेगी अपने जीवन परिवर्तन की कहानी।"

निजानन्द का आदेश पाकर अनीता ने अपनी कहानी कहना प्रारम्भ किया – "बात कुछ दिन पूर्व की ही है। एक दिन जबतक मैं स्नान करके किचिन में आई, तब तक सासू माँ आध्यात्मिक शिक्षिण शिविर में प्रवचन सुनने जिनमन्दिर जा चुकीं थीं। वे जाने के पहले गैस चूल्हे पर एक ओर घी से भरा भगोना और दूसरी ओर दाल-चावल का कुकर रख गईं थीं।

सासू माँ के काम में हाथ बटाने की पवित्र भावना से मैंने घी से भरे उस भगोने को ठण्डा होने के लिए नीचे रखना चाहा कि वह भगोना हाथों से स्लिप होकर लुढ़क गया और पूरा पाँच किलो घी मोरी में बह गया।

मैं घबरा गई, मेरी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी, मैं किंकर्तव्य विमूढ़ हो वहीं किचिन में खड़ी थी। घी की हानि का दुःख तो था ही, सासू जी के क्रोधानल से झुलसने का भी भारी भय था।

प्रवचन पूरा होते ही सासू माँ घर आईं और सीधी किचिन में आ गईं। वहाँ उन्होंने मेरी आँखों में आँसू और मुझे भय से काँपते देखकर पूछा – अरे बहू! क्या बात है? रो क्यों रही है? क्या 'अनूप' से कुछ कहा-सुनी हो गई है?

मैं अपनी सफाई में कुछ कहूँ, इसके पूर्व ही उनकी नजर किचिन के प्लेट फार्म पर जा पड़ी। और एक क्षण को तो वे मूर्तिवत् स्तब्ध रह गईं; किन्तु दूसरे ही क्षण स्वयं को संभालते हुए चिन्तन की मुद्रा में मानो कुछ याद करते हुए बोली – "बेटा! इसमें रोने की क्या बात है? दुःखी क्यों होती है? तूने जानकर थोड़े ही गिराया है। गिर गया तो गिर गया। तू तो यह बता कि – तू कहीं ज़्यादह तो नहीं जल गई? जहाँ-जहाँ भी थोड़े-बहुत गर्म छींटे पड़े, वहाँ भी बरनॉल लगाया या नहीं?"

इतनी बड़ी हानि हो जाने पर भी सासू माँ के मुख से ऐसे मधुर वचन सुनकर मैं आश्चर्य चकित रह गई। मेरी आँखें उन्हें निहारते हुए फटी की फटी रह गईं।

सासू माँ प्यार से बोली – "पगली सी खड़ी-खड़ी ऐसे क्या देख रही है? चल, हट यहाँ से; मुँह धो और अपना काम देख! मैं सब सँभाल लूँगी।"

इस तरह सासू माँ से अभयदान पाकर मुझे मन ही मन भारी आश्चर्य मिश्रित आनन्द की अनुभूति हुई। चमड़ी के घावों पर भले बरनॉल नहीं लग पाया था; पर चिन्ता और भय से जल रहे मेरे हृदय के घावों पर सासू माँ की सहानुभूति की मरहम अवश्य लग गई थी।

सासू माँ ने मेरे आँसू पोंछते हुए कहा – अरी पगली! इसतरह **गालों पर आँसूओं का लुढ़कना घी के ढुल जाने से बहुत मँहगा पड़ता है। ऐसा आर्तध्यान करने से बहुत पाप बन्ध होता है। और**

इस घी के ढुलने में तू तो निमित्त मात्र ही है न ! इसका परिणमन तो इसी रूप में होना था, सो हो गया।"

मैंने साहस जुटाकर पूछा – "अम्मा जी ! मैं कुछ समझी नहीं, यह आप क्या कह रहीं हैं ?"

"बेटा ! मैं बिल्कुल ठीक कह रही हूँ, मैंने कल ही शिबिर के प्रवचन में सुना था कि – **'जिसद्रव्य का, जिसकाल में, जिस क्षेत्र में, जिसरूप में जैसा परिणमन होना होता है, वह वैसा ही होकर रहता है। उसे इन्द्र तो क्या ? जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते।'**

यह बात अभी तुमारी समझ में नहीं आयेगी; क्योंकि तुमने अभी ऐसे प्रवचन सुने ही कहाँ हैं ? एक बार इस बीस दिवसीय शिविर में शामिल हो जाओ तो फिर सब समझ में आने लगेगा।

सासू माँ के उस मधुर व्यवहार से मैं ऐसी गद्-गद् और भावुक हो गई कि मैं उनके पैरों से लिपटकर रोने लगी। उन्होंने भी मुझे उठाकर अपने गले से लगा लिया और मुझे हँसाने के लिए बोली – "अरी अनीता ! घी को तो मोरी में जाना ही था। घर में आने के बाद उसकी तो यही गति होनी थी। जो अपने पेटों में से पास होकर मोरी में जाता, वह सीधा चला गया। बस, यही फर्क पड़ा न ?"

ऐसी गम्भीर स्थिति में सासू माँ के मुख से ऐसी विनोद की बातें सुनकर हमें भी हँसी आ गई। हम हँस ही रहे थे कि – इसी दौरान मेरे श्वसुरजी भी प्रवचन सुनकर आ गये। हम सबको हँसता देख वे भी विनोद में बोले – "अरे ! आज सास-बहू का कौशल्या-सीताजी की तरह यह क्या प्रेमालाप चल रहा है ?

और हाँ, मैंने बजार से जो घी भेजा था, वह तो पसन्द आ ही गया होगा ? गाय का शुद्ध और एकदम ताजा घी था। यद्यपि बाजार भाव से पाँच रुपये किलो मँहगा मिला था; पर घी बहुत अच्छा था।"

अनीता ने आगे बताया – मेरी सासू माँ श्वसुरजी के इस स्वभाव से भलीभाति परिचित थीं कि – उन्हें आर्थिक हानि जरा भी बर्दाश्त नहीं होती। अतः लम्बी-चौड़ी भूमिका बनाते हुए सासू माँ ने श्वसुरजी से कहा – "आप की पसन्द कभी गलत निकली है ? जो घी में चूक होती ? सचमुच घी बहुत अच्छा था; पर मैं आप से यह जानना चाहती हूँ कि – आप को इस **'घृत लवण तैल तण्डुल'** की घरेलू व्यवस्था में अभी भी इतनी दिलचस्पी क्यों है ? तुम तो हार्ट पेशन्ट हो न ? रूखा-सूखा खाओ और खुश रहो।"

श्वसुर जी बोले – "बात तो तुमारी शत-प्रतिशत सही है, परन्तु यह समझ में नहीं आया कि तुम ये पहेलियाँ क्यों बुझा रही हो ?"

सासू जी गम्भीर होकर बोली – "अजी, अनीता आज बाल-बाल बच गई। बहुत बड़ा हादसा टल गया। यदि बे-चारी जल जाती तो क्या होता ?"

"पर, हुआ क्या ? कुछ बताओ भी तो।" – श्वसुर जी ने पूछा।

सासू माँ ने कहा – "मैं घी को गर्म करने के लिए गैस चूल्हे पर रखकर प्रवचन में चली गई। अनीता ने गैस पर से उस गर्म भगोने को बड़ी ही सावधानी पूर्वक उठाया, फिर भी चिकनाई के कारण वह भगोना हाथ से स्लिप हो गया और घी फैल गया।"

श्वसुर जी ने भी उसी आध्यात्मिक शिविर की ज्ञान गंगा में पूरे बीस दिन डुबकियाँ लगाई थीं। इसकारण उनका सोंच भी बदल गया था।

वे बोले – "अरे ! बस, इतनी सी बात और इतनी लम्बी-चौड़ी भूमिका ! ढुल गया तो ढुल गया ? अपना क्या ले गया? बहू तो बाल बाल बच गई न ! बस, फिर क्या बात है ?"

सासू माँ ने वातावरण को सरस बनाने के लिए कहा – अरे! बहू तो बच ही गई, हम सबका पेट भी खराब होने से बच गया। घी से तला-तला माल खाते बहुत दिन हो गये, अब कुछ दिन आपका साथ देकर देखेंगे सो महीने का बजट भी पूरा पड़ जायेगा।

श्वसुरजी ने कहा – मन समझाने के लिए तुम्हारा यह खयाल भी बुरा नहीं है; परन्तु **जब जगत के प्रत्येक परमाणु का परिणमन स्वतन्त्र है तो उसमें हम-तुम कर ही क्या कर सकते हैं ?"**

अनीता ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा – "सासू जी एवं श्वसुरजी के घर आने के पहले तक मैं ऐसी घबड़ा रही थी कि न जाने आज मुझ पर क्या बीतेगी ? क्योंकि सासू जी का स्वभाव तो क्रोधी था ही, श्वसुर जी भी लोभी प्रकृति के थे। इस कारण घर-परिवार में आये दिन महाभारत मचा रहता था। मैं तो दोनो से बच-बच कर दूर-दूर ही रहा करती थी। फिर भी यदा-कदा गिरफ्त में आ ही जाती। पता नहीं, शिविर में जाने मात्र से उनके जीवन में यह जादुई परिवर्तन कैसे हो गया ? साधारण जन के लिए तो यह अभी भी रहस्य ही बना हुआ है, कल्पना का ही विषय है।

यह भी किसी से छिपा नहीं है कि – मेरी सासूजी सचमुच ज्वाला देवी से शान्ति देवी बनीं हैं। एतदर्थ इन आध्यात्मिक शिविरों की जितनी भी सरहना की जाय कम है।

जब ये शिविर मेरे पूरे परिवार के लिए वरदान बन गये तो भला मैं इस लाभ से वञ्चित कैसे रह सकती थी ? अतः मैने भी आप की गोष्ठी और प्रवचनों में नियमित आना प्रारम्भ कर दिया है।

अब तो जो भी मुझे मिलता है, मैं उसे अपने एवं अपने परिवार में हुए इस परिवर्तन की कहानी अवश्य सुनाती ही हूँ, ताकि वे भी कुछ सबक सीख सकें।"

अनीता के जीवन की कहानी सुनकर जहाँ सारे श्रोता

वाह-वाह कह उठे, वहीं विनिता को विश्वास ही नहीं हुआ कि – ऐसा भी हो सकता है ? अतः वह अपने मनोभावों को व्यक्त करते हुए बोली – "क्या सचमुच बीस दिन के शिविर में ऐसा परिवर्तन होना सम्भव है ?"

निजानन्द ने आत्मविश्वास के साथ कहा – हाँ, हाँ, बीस दिन तो बहुत होते हैं, बीस दिन छोड़ बीस मिनट के एक भाषण से भी यह सम्भव होता देखा गया है।

इसके प्रमाण के लिए भी हमें कहीं दूर नहीं जाना पड़ेगा। तुम अपने अनन्य विश्वास पात्र देवानन्द जी से ही मिल लो और उन्हीं के श्री मुख से सुन लो बीस मिनट के भाषण से हुई, उनके जीवन परिवर्तन की कहानी।

"हाथ के कंगन को आरसी क्या ?"

विनीता के निवेदन करने पर निजानन्द की सभा के ही नियमित श्रोता श्री देवानन्द ने विस्तार से बताया – "सौभाग्य से मुझे एक विद्वान की बेटी के विवाह में सम्मलित होने का सहज संयोग बन गया। मुझे यह जानने की जिज्ञासा जगी कि – देखें तो सही विद्वानों के बेटे-बेटियों की शादियों में क्या विशेषता होती है ?

मेरी आशा और अपेक्षा के अनुरूप वहाँ मैंने शुद्ध-सात्विक खान-पान, सदाचार और सादगी से भरपूर वातावरण और मात्र अहिंसक वस्तुओं का ही उपयोग तो देखा ही, साथ ही एक कल्पनातीत उल्लेखनीय बात यह भी देखी कि – शादी जैसे राग-रंग के माहौल के दौरान ही भरी महफिल में विशुद्ध अध्यात्म सन्देश देने हेतु एक विशिष्ट विद्वान के बीस मिनट के व्याख्यान का ऐसा आयोजन था, जिसमें खाना-पीना तो दूर, परस्पर बातचीत करना भी निषिद्ध था। वह भी – पहले व्याख्यान; तदुपरान्त भोजन।

व्याख्यान के आयोजन की बात सुनकर कुछ लोगों में तो हर्ष की लहर थी; पर अधिकांश काना-फूसी ही कर रहे थे।

एक ने धीरे से कहा – 'बेटी के बाप का दिमाग खराब तो नहीं हो गया, यह भी कोई समय है व्याख्यान का ?'

दूसरा बोला– 'देखें, कितने सुनते है, इनका व्याख्यान ! इस तरह तो सारा कार्यक्रम ही गुड़-गोबर हो जायेगा ?'

परस्पर में ऐसी चर्चा चल ही रही थी कि प्रवचन प्रारम्भ हो गया। प्रवचन का प्रारम्भ ही इतना प्रभावक, रोचक एवं मार्मिक था कि – सभी एक क्षण में ही मन्त्रमुग्ध से हो गये।

मेहमान विद्वान ने अपने भाषण में कहा – "इस शादी के राग-रंग भरे माहौल में तत्त्व की गहरी बात तो क्या कहूँ ? और शादी-ब्याह सम्बन्धी लौकिक बातें मुझसे भी कहीं अधिक आप लोग जानते हैं; फिर भी जब आपने मेरे व्यख्यान की घोषणा कर ही दी तो मैं आप का ध्यान वर्तमान की उस ज्वलन्त समस्या की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ, जिससे सारा संभ्रान्त समाज चिन्तित है, परेशान है।

आज हमारे खान-पान में हुई गड़बड़ी के कारण शुद्ध शाकाहारी और सदाचारी 'वर' न मिलने से २६-२६ वर्ष की पढ़ीं-लिखीं सर्वांग सुन्दर कुमारी कन्यायें हमारे घरों में बैठीं हैं, जिनकी चिन्ता में माता-पिता और परिजनों की नींद हराम हो रही है। माता-पिता को चिन्तित देख कभी-कभी तो भावुक लड़कियाँ अपनी जान तक जोखिम में डाल देतीं हैं।

ऐसे माँ-बाप और बेटियों से मेरा कहना है कि वे किंचित भी चिन्तित और निराश न हों। देखो, न केवल जैनदर्शन के अनुसार, बल्कि जैनेतर दर्शनों के अनुसार भी सभी अनुकूल-प्रतिकूल संयोग अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार एवं

भवितव्यानुसार पहले से ही निश्चित होते हैं। हम-तुम तो मात्र बाह्य निमित्त हैं। होगा तो वही जो होना है। सचमुच तो हमें वर या कन्या चुनने का अधिकार ही नहीं है। हम तो व्यर्थ की चिन्ता में दुबले हुये जा रहें हैं।

अरे! जब इस जगत में किसी कन्या का जन्म होता है, तब उसके भी पहले उसका वर इसी मिट्टी में कहीं खेल रहा होता है, जिसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष जानते हैं। जिन्हें सर्वज्ञ में श्रद्धा और सर्वज्ञ की वाणी में विश्वास होता है, उनकी आकुलता नियम से कम होती ही है; क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान और वाणी के अनुसार जब उनके संयोग सम्बन्ध का समय आता है, तब अन्य कारण कलाप भी सहज मिलते चले जाते हैं और सम्बन्ध हो जाते हैं।

यद्यपि तत्त्वज्ञानी माता-पिता को भी सन्तान के प्रति अनुराग होने से समय-समय पर योग्य सम्बन्ध खोजने के विकल्प आये बिना नहीं रहते, तदनुसार वे खोज करने के लिए भाग-दौड़ भी करते देखे जाते हैं; परन्तु उन्हें आकुलता नहीं होती; क्योंकि उनकी सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञ वाणी में श्रद्धा हो गई है।

दखो, यहाँ यह भी विचारणीय है कि – जब हमने माता-पिता, भाई-बहिन एवं पुत्र-पुत्रियों को चुना नहीं; जैसे मिल गये, उन्हें सहज स्वीकार कर लिये। वैसे ही वर-कन्या को भी सहज स्वीकार क्यों नहीं कर लेते? यहाँ मीन-मेख क्यों करते हैं?

परन्तु अज्ञानी को जहाँ भी जरा सी गुंजाइश दिखी नहीं कि नखरे करने लगता है, जो उचित नहीं।"

इसप्रकार पण्डितजी ने बीस मिनट में जो मार्मिक बात कही, उससे अनेक लोगों ने भारी राहत महसूस की। बहुत से तो अपनी बेटियों की शादी की चिन्ता के भार से मानो मुक्त ही हो गये। परस्पर में प्रायः सभी ने आदरणीय पण्डितजी के भाषण की

भूरि-भूरि प्रशन्सा की और आयोजक को भी बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। अनेक लोगों ने माननीय पण्डितजी के पास जाकर ऐसे संक्षिप्त किन्तु सारभूत भाषण के लिए हार्दिक प्रसन्नता प्रगट की।

एक ने तो उन्हें गले ही लगा लिया और कहा – "सचमुच आपने तो चिन्ता की ज्वाला से जले मेरे घावों पर मानो मरहम ही लगा दिया है।"

ज्ञानानन्दजी ने अपनी बात को पूरा करते हुए कहा – "पण्डितजी के उस भाषण से मैं सब से अधिक प्रभावित हुआ। उस बीस मिनट के व्याख्यान ने मेरी तो दिशा ही बदल दी। तभी से मैं निजानन्द जी के व्याख्यान सुनने नियमित आ रहा हूँ। कोई माने या न माने; आज माने या कल माने पर सचमुच सुखी जीवन जीने का इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। – ऐसी मेरी दृढ़ श्रद्धा हो गई है।"

अन्त में सरला ने सन्तोष प्रगट करते हुए कहा – "इन दो प्रत्यक्ष प्रमाणों से यह तो सिद्ध हो गया कि – अपना कर्तव्य तो तत्वाभ्यास करना ही है, शेष प्रक्रिया भी समयानुसार स्वतः होगी ही।"

सरला ने हर्षित होते हुए कहा – "कल की चर्चा के बीच में जो अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव के नाम आये थे; उस समय आपने अत्यन्ताभाव को दो द्रव्यों के बीच वज्र की दीवाल बताया; परन्तु अभी अभावों के तो मात्र नाम ही सुनने में आये हैं, ये अभाव क्या हैं ? और इनका जीवन को सुखी बनाने में क्या योगदान है ? यह भी तो थोड़ी चर्चा हो जाय ! "

निजानन्द ने कहा – "अभी तो काफी समय हो गया है, अतः विश्राम करें। इसकी चर्चा कल करेंगे।" •

उन्नीस

"बीसों वर्षों तक प्रवचन सुनने से श्रोता को उतना लाभ नहीं होता, जितना लाभ विद्यार्थी बनकर कक्षा में बैठने से होता है। जीवनभर प्रवचन सुननेवाले कभी प्रवचनकार-पण्डित नहीं बन पाते और बीस दिन के शिविरों की कक्षा में या विद्यालय में पढ़कर दो-पाँच वर्ष में ही अच्छे प्रवचनकार बन जाते हैं। अतः क्यों न आज 'अभाव' के प्रकरण की कक्षा ही ली जाय ?"

निजानन्द के इस प्रस्ताव को सभी ने सहर्ष स्वीकार किया और कक्षा प्रारम्भ हो गई।

"जिसप्रकार स्व की अपेक्षा 'भाव' (अस्तित्व) वस्तु का धर्म है, वस्तु का स्वरूप है; उसीप्रकार पर की अपेक्षा अभाव (नास्तित्व) भी वस्तु का धर्म है, वस्तु का स्वरूप है।

वस्तुतः बात यह है कि – अभाव या नास्ति धर्म भी वस्तु में भाव धर्म की भाँति अस्तिरूप से रहता है। यह अभावरूप धर्म गधे के सींग के समान सर्वथा अभावरूप, तुच्छाभावरूप नहीं है।"

कक्षा में समझाये गये निजानन्द के इस कथन को सरला ने सूक्ष्मता से समझने का प्रयास किया। वह बारम्बार सोचती है – "नास्ति या अभावरूप धर्म भी सभी द्रव्यों में अस्तिरूप से विद्यमान है। यदि वस्तु के स्वरूप में नास्ति धर्म अस्तिरूप से नहीं होता तो सभी द्रव्य मिलकर एकमेक हो जाते। ओहो ! प्रत्येक वस्तु में ऐसी 'अभाव' शक्ति है, जिसके कारण एक वस्तु में अन्य वस्तुओं का

प्रवेश नहीं हो सकता। अन्यथा सब वस्तुएँ मिल जातीं।

यह बात कुछ-कुछ जमती तो है; परन्तु आत्मा में यह 'अभाव' धर्म अस्तिरूप है – ऐसा सिद्ध करके ये समझाना क्या चाहते हैं ? यह सिद्ध करके क्या उपलब्धि करना चाहते हैं ?

यदि ऐसा कोई धर्म या शक्ति है तो अच्छी बात है। द्रव्यों की सत्ता पृथक्-पृथक् तो रहती ही है; पर उनके कारणों की खोज से हमें क्या मिलेगा ? हम इसमें क्यों उलझें ?

क्यों न सीधी-सादी धर्म की बात समझकर उसका पालन करें ? जो होता है, जैसे भी होता है; उसे उसीप्रकार होने दें; हमें इन दर्शनिक गुत्थियों से क्या लेना-देना है ? पण्डितों की बातें पण्डित जाने।"

सरला को सोच-विचार में मग्न देख निजानन्द ने टोका– "सरला ! तुम क्या सोच रही हो ?"

सरला ने सँभलकर कहा – "नहीं, नहीं; कुछ नहीं। बस यों ही थोड़ा विचार आ गया कि – इसके समझने से धर्म सम्बन्धी क्या लाभ ? क्यों न आप हमें सीधे-सादे सुख के साधन रूप धर्माचरण की कुछ विधियाँ बता दें। इन दार्शनिक गुत्थियों में उलझ कर हमें क्या उपलब्धि होगी ?"

"अरे ! सरला यह दार्शनिक गुत्थी नहीं है। सचमुच यही सुखी जीवन का आधार स्तम्भ है। इसे समझे बिना वस्तु की स्वतन्त्रता का वह ज्ञान अधूरा रह जायेगा, जिससे स्वाधीन सुख की प्राप्ति होने में मदद मिलती है।

इहलौकिक और पारलौकिक जीवन को सुखद बनाने में जितना योगदान वस्तुस्वातन्त्र्य सिद्धान्त का है, उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान **चार अभावों** का है। यह प्रकरण दो द्रव्यों की स्वतन्त्रता का उद्घोष तो करता ही है, प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता का भी

परिज्ञान करा देता है। इस प्रकरण की सच्ची समझ व श्रद्धा से हमारे वर्तमान कषायानुरञ्जित जीवन में आमूलचूल परिवर्तन आ जाता है और हम लोग, पर एवं पर्याय के कर्तृत्व के भार से निर्भार होने लगते हैं। प्रारम्भ में तो ये सिद्धान्त श्रद्धा के स्तर पर ही हमें निराकुलता प्रदान करते हैं; पर धीरे-धीरे आचरण में भी निराकुलता एवं सुख-शान्ति का अनुभव होने लगता है।"

सरला ने कहा – "अच्छा, ठीक है। यदि ऐसी बात है तो सबसे पहले आप अभाव का स्वरूप, उसके भेद–प्रभेद एवं वीतराग धर्म की प्राप्ति में इसकी क्या उपयोगिता है ? यही समझायें।"

"विश्व में या लोक में जो भी द्रव्य, गुण या पर्याय के रूप में पदार्थ विद्यमान हैं, वे सभी अपने आप में परिपूर्ण हैं और पूर्ण स्वतन्त्र हैं। एक वस्तु में दूसरी वस्तु कभी नहीं मिलती। – ऐसी पर के निषेध रूप सामर्थ्य प्रत्येक द्रव्य, गुण व पर्याय में अस्तिरूप से विद्यमान है; उसे ही यहाँ अभाव कहा है।

युक्त्यानुशासन में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं –

'भवत्यभावोऽपि च वस्तु धर्मो, भावान्तरभाववदर्हतस्ते॥ ५८॥

भावस्वरूप धर्मों की भाँति 'अभाव' भी वस्तु का धर्म है।'

ये अभाव मूलतः चार प्रकार के होते हैं। (१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव (३) अन्योन्याभाव एवं (४) अत्यन्ताभाव। इनके सिवाय एक तदभाव नामक अभाव का भी आगम में उल्लेख है, जिसकी चर्चा बाद में कभी करेंगे।"

"ठीक है, पहले तो इन्हीं चारों प्रकार के अभावों को ही समझाइये, ये बहुत इम्पोर्टेन्ट हैं।"

"हाँ, वीतराग धर्म की उपलब्धि में इनका भी योगदान है। अतः ध्यान से सुनो !

१. प्रागभाव:– वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव

प्रागभाव है। जैसे कि – वर्तमान दही पर्याय का दूध में अभाव प्रागभाव है।

२. **प्रध्वंसाभाव**:– वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है। जैसे कि – छाछ में वर्तमान दही पर्याय का अभाव प्रध्वंसाभाव है।

देखो, वर्तमान दही का दूध में विनष्ट (व्यय) रूप एवं छाछ में अनुत्पन्न रूप से अभाव है।"

सरला ने बीच में ही कहा – "आपने दूध-दही का उदाहरण देकर तो समझा दिया; पर इससे आत्मा का धर्म कैसे हो जायेगा ? यह हमारी समझ में नहीं आया। अतः हमें तो आप आत्मा पर ही घटाकर बताइये।"

"हाँ, सुनो ! जैसे कोई अभी अन्तरात्मा है तो उसकी इस वर्तमान अन्तरात्मा रूप पर्याय का पूर्व की बहिरात्मा पर्याय में अभाव प्रागभाव हुआ एवं परमात्मारूप आगामी पर्याय में वर्तमान अन्तरात्मा पर्याय का अभाव प्रध्वंसाभाव कहलायेगा। और –

३. **अन्योन्याभाव**:– एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का अभाव अन्योन्याभाव है। जैसे कि – नींबू की वर्तमान खटास का चीनी की वर्तमान मिठास में अभाव है।"

सरला बोली – "इसे भी आत्मा पर घटाकर बताइये न ?"

"सुनो ! यह आत्मा पर नहीं घटेगा। तुमने इसकी परिभाषा ध्यान से नहीं सुनी, इसलिए ऐसा प्रश्न करती हो। परिभाषा में स्पष्ट कहा है कि **एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का अभाव अन्योन्याभाव है**, अतः यह मात्र पुद्गल द्रव्य में ही घटता है तथा पुद्गल द्रव्यों की भी मात्र वर्तमान पर्याय में ही घटता है। और –

४. **अत्यन्ताभाव**:– एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव अत्यन्ताभाव है। जैसे कि – जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य में परस्पर अत्यन्ताभाव है।"

सरला ने पुनः पूछा – "तो क्या चारों अभाव सभी द्रव्यों, गुणों एवं पर्यायों पर नहीं घटते ?"

निजानन्द ने कहा – "हाँ, नहीं घटते। ध्यान रहे, अत्यन्ताभाव छहों द्रव्यों में से किन्हीं दो द्रव्यों में घटता है। अन्योन्याभाव दो पुद्गल द्रव्यों की वर्तमान पर्यायों में घटित होता है। प्रागभाव छहों द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की वर्तमान व पूर्व पर्यायों में एवं प्रध्वंसाभाव छहों द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की वर्तमान और उत्तर पर्यायों में घटित होता है।

एक मात्र अत्यन्ताभाव द्रव्यसूचक है, बाकी तीनों अभाव पर्यायसूचक हैं।"

"क्या इन्हें और भी संक्षेप में, सरल भाषा में बता सकते हो ?"

"हाँ, इन चारों को संक्षेप में यों भी कह सकते हैं कि –

जिसका अभाव होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे **प्रागभाव** कहते हैं।

जिसके सद्भाव में नियम से विवक्षित कार्य का अभाव (नाश) होता है, उसे **प्रध्वंसाभाव** कहते हैं।

एक पुद्गल की वर्तमान पर्याय में, दूसरे पुद्गल की वर्तमान पर्याय की व्यावृत्ति या अभाव को **अन्योन्याभाव** कहते हैं।

तथा कालत्रय की अपेक्षा से जो दो द्रव्यों में परस्पर अभाव है, उसे **अत्यन्ताभाव** कहते हैं।"

विनीता ने कहा – "अब यह बताइये कि – यदि इन चारों अभावों को न माना जाय तो क्या दोष है ?"

निजानन्द ने कहा – "हाँ, सुनो ! (१) प्रागभाव न मानने पर

समस्त वर्तमान कार्य (पर्यायें) अनादि सिद्ध होंगे।

(२) प्रध्वंसाभाव के न मानने पर समस्त वर्तमान कार्य (पर्यायें) अनन्तकाल तक रहेंगे।

(३) अन्योन्याभाव के न मानने पर सब पुद्गलों की पर्यायें मिलकर एक हो जावेंगीं अर्थात् सब पुद्गल सर्वात्मक हो जावेंगे।

(४) अत्यन्ताभाव के न मानने पर सब द्रव्य अपने-अपने स्वरूप को छोड़ देंगे; प्रत्येक द्रव्य की विभिन्नता नहीं रहेगी, जगत के सब द्रव्य एक पिण्डरूप हो जावेंगे।"

ऐसा कहकर निजानन्द ने पूछा – "आया कुछ समझ में?"

विनीता ने कहा – "जी हाँ, आ गया।"

"अच्छा तो बताओ ? शरीर और जीव में कौनसा अभाव है?"

विनीता ने उत्तर दिया – "अत्यन्ताभाव; क्योंकि एक पुद्गलद्रव्य है और दूसरा जीवद्रव्य है और दो द्रव्यों के बीच होनेवाले अभाव को ही अत्यन्ताभाव कहते हैं।"

"पुस्तक और घड़े में कौन-सा अभाव है ?"

"अन्योन्याभाव; क्योंकि पुस्तक और घड़ा दोनों पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्यायें हैं।"

"आत्मा अनादि से केवलज्ञान पर्यायमय है – ऐसा मानने वाले कौनसा अभाव नहीं मानते ? कारण सहित बताओ।"

"प्रागभाव; क्योंकि केवलज्ञान ज्ञानगुण की पर्याय है; अतः केवलज्ञान होने से पूर्व की मतिज्ञानादि पर्यायों में उसका अभाव है।"

"यह वर्तमान राग मुझे जीवन भर परेशान करेगा – ऐसा माननेवाले ने कौनसा अभाव नहीं माना ?"

"प्रध्वंसाभाव; क्योंकि वर्तमान राग का भविष्य की चारित्र गुण की पर्यायों में अभाव है; अतः वर्तमान राग भविष्य के सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता।"

सुनीता ने कहा – "अब यह समझाइए कि इन चार प्रकार के अभावों को समझने से धर्म सम्बन्धी क्या-क्या लाभ हैं ?"

"अनादि से मिथ्यात्वादि महापाप करनेवाला आत्मा पुरुषार्थ करे तो वर्तमान में उनका अभाव कर सम्यक्त्वादि धर्म दशा प्रगट कर सकता है; क्योंकि प्रागभाव के स्वरूप में कहा गया है कि – वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्यायों में अभाव है; अतः प्रागभाव समझने से यह हीन भावना निकल जाती है कि मैंने बहुत पाप किये हैं, मैं पापी हूँ, मैं कैसे तिर सकता हूँ ?

प्रध्वंसाभाव के समझने से यह ज्ञान हो जाता है कि वर्तमान में कैसी भी दीन-हीन दशा हो, भविष्य में उत्तम दशा प्रगट हो सकती है; क्योंकि वर्तमान पर्याय का आगामी पर्यायों में अभाव है। अतः वर्तमान पामरता देखकर भविष्य के प्रति निराश न होकर स्व-सन्मुख होने रूप पुरुषार्थ जागृत होता है।

'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है, क्योंकि उनमें आपस में अत्यन्ताभाव है' – ऐसा समझने से 'दूसरा मेरा बुरा कर देगा' – ऐसा अनन्त भय निकल जाता है। 'दूसरा मेरा भला कर देगा' – ऐसी परमुखापेक्षिता की वृत्ति निकल जाती है। तथा 'मैं दूसरों का भला कर सकता हूँ' – इस मिथ्या मान्यता से होनेवाला अहंकार – मान कषाय का अभाव होता है तथा 'मैं दूसरों का बुरा कर सकता हूँ,' इस मान्यता से होनेवाले क्रोध भाव का भी अभाव होता है।

अन्योन्याभाव के ज्ञान से भी स्वाधीनता का भाव जागृत होता है; क्योंकि जब एक पुद्गल की पर्याय, दूसरे पुद्गल की पर्याय से पूर्ण भिन्न एवं स्वतन्त्र है तो फिर आत्मा से तो जुदी है ही।

इस तरह चारों अभावों के समझने से स्वाधीनता का भाव जागृत होता है, पर से आशा की चाह समाप्त होती है, भय का भाव

निकल जाता है, भूतकाल और वर्तमानकाल की कमजोरी और विकार देखकर उत्पन्न होने वाली दीनता समाप्त हो जाती है और स्व-सन्मुख होने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

अभावों के जानने से क्या लाभ है, यह भी तुम्हारी समझ में आ ही गया होगा ?"

"आ गया ! बहुत अच्छी तरह आ गया !!"

"आ गया तो बताओ ! 'शरीर मोटा-ताजा हो तो आवाज भी बुलन्द होती है'– ऐसा मानने वाला क्या गलती करता है ?"

सरला ने उत्तर दिया – "वह अन्योन्याभाव का स्वरूप नहीं जानता; क्योंकि शरीर का मोटा-ताजा होना आहार वर्गणारूप पुद्गल का कार्य है और आवाज बुलन्द होना भाषा वर्गणा का कार्य है। इसप्रकार आवाज और शरीर की मोटाई में अन्योन्याभाव है।"

पुनः प्रश्न – "'ज्ञानावरण कर्म के क्षय के कारण आत्मा में केवलज्ञान होता है'– ऐसा माननेवाले ने क्या भूल की ?"

विनीता ने उत्तर दिया – "उसने अत्यन्ताभाव को नहीं जाना; क्योंकि ज्ञानावरण कर्म और आत्मा में अत्यन्ताभाव है; फिर एक द्रव्य के कारण दूसरे द्रव्य में कार्य कैसे हो सकता है ?"

प्रश्न – "शास्त्र में ऐसा क्यों लिखा है कि ज्ञानावरणी कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ?"

सुनीता ने उत्तर दिया – "शास्त्र में ऐसा निमित्त का ज्ञान कराने के लिए असद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है, किन्तु वस्तुतः (निश्चयनय से) विचार किया जाय तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य का कर्ता हो ही नहीं सकता।

निजानन्द ने सारांश बताया – "इस तरह हम देखते हैं कि अकेला भाव ही वस्तु का धर्म नहीं है, अभाव भी वस्तु का धर्म है, उसे माने बिना वस्तु की व्यवस्था नहीं बनेगी।"

यदि प्रागभाव का लोप किया जाय अर्थात् 'द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उत्पाद से पहले की पूर्व पर्याय में अभाव था' – ऐसा न माना जाय तो वह कार्यरूप द्रव्य अर्थात् उस द्रव्य की वर्तमान पर्याय अनादि ठहरती है। जबकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से वह अनादि नहीं है, अतः यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

यदि प्रध्वंस (व्यय) धर्म का लोप किया जाय तो वह कार्यरूप द्रव्य अनन्तता यानि अविनाशीपने को प्राप्त होता है। जबकि वह भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप होने से एकान्ततः अविनाशी नहीं है; अतः यह भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसप्रकार उक्त दोनों अभावों का न मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध दोष से दूषित है।"

निजानन्द ने आगे कहा कि – "अन्यापोह का व्यक्तिक्रम किया जाय अर्थात् वस्तु के एक रूप का दूसरे रूप में अथवा एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव न माना जाय तो वह वस्तु अभेद रूप से सर्वात्मक ठहरती है।

यदि अत्यन्ताभाव का लोप किया जाय – एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में सर्वथा अभाव न माना जाय तो एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में तादात्म्य सिद्ध हो जाता है, दो द्रव्यों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। 'यह चेतन है, यह अचेतन है' – ऐसा भेद रूप से कोई कथन ही नहीं बन सकता।

तात्पर्य यह है कि – यदि पदार्थों के छहों द्रव्यों के मात्र भाव, अस्तित्व या सत् पक्ष को ही एकान्त रूप से माना जाय तो वस्तु सर्वथा अनादि-अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाती है।"

तदभाव की चर्चा उठाते निजानन्द ने सरला से पूछा – "सरला ! यह बताओ कि द्रव्य और उसके गुणों में तथा एक द्रव्य के दो गुणों में परस्पर कौन-सा अभाव लागू होता है ?"

"यहाँ इन चारों अभावों में से तो कोई भी अभाव लागू नहीं

होता; इनमें तीन अभाव तो मात्र पर्यायों पर ही लागू होते हैं और चौथा अन्त्यन्ताभाव पृथक्-पृथक् दो द्रव्यों पर घटित होता है। अतः यहाँ तो वह तदभाव ही लागू होना चाहिए। जिसकी चर्चा आपने प्रारम्भ में की थी; पर उसका स्वरूप भी तो समझाओ !"

निजानन्द ने कहा – "तुम्हारी सोच बिल्कुल सही है, जहाँ ये चार अभाव लागू नहीं होते, वहाँ तदभाव लागू होता है। उसका स्वरूप प्रवचनसार की गाथा १०६ से १०८ में इसप्रकार कहा है –

'**तदभाव (अतद्भाव)**:– विभक्त-प्रदेशत्व (भिन्न-प्रदेशत्व) पृथक्त्व का लक्षण है। सो वह सत्ता, भाव या गुण और द्रव्य में तो सम्भव नहीं है; क्योंकि गुण व गुणी में विभक्त-प्रदेशत्व का अभाव होता है। शुक्लत्व और वस्त्र की भाँति। जो वस्त्र के श्वेतगुण के प्रदेश हैं, वे ही वस्त्र के प्रदेश हैं। इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है। इसीप्रकार जो सत्ता के अर्थात् भाव या गुण के प्रदेश हैं, वे ही द्रव्य अर्थात् गुणी के प्रदेश हैं। इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है।

यद्यपि उक्त प्रकार से सत्ता और द्रव्य में पृथक्त्व नहीं है, तथापि इन दोनों में अन्यत्व है; क्योंकि इनमें अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है। अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। वह अतद्भाव तो सत्ता (गुण) व द्रव्य के बीच है ही। भले ही वस्त्र और उसकी सफेदी में प्रदेशभेद नहीं है, इसलिए उनमें पृथक्त्व नहीं है; फिर भी संज्ञा, संख्या, लक्षण भेद होने से अन्यत्व है। द्रव्य व गुणों में भले ही प्रदेशभेद नहीं है, अतः पृथक्त्व न होने पर भी स्वरूपभेद होने से अन्यत्व तो है ही।'

प्रवचनसार गाथा ९८ तथा १०८ की जयसेनाचार्य की टीका में भी यही कहा है कि – 'जो गुण वस्तु में प्रदेशों से भिन्न-भिन्न न होने पर भी स्वरूप से भिन्न-भिन्न हों, जिनके संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन भिन्न हों; पर प्रदेशों से भिन्नता न हो, वहाँ तदभाव

लागू होता है। जैसे – द्रव्य का स्वरूप द्रव्यरूप ही है, गुणरूप नहीं, और गुणों का स्वरूप अपने-अपने गुणरूप ही है, द्रव्यरूप नहीं, अन्य गुणरूप भी नहीं। रसगुण रस ही है, वर्ण नहीं; और वर्णगुण वर्ण ही है, रस नहीं – यही तदभाव है।'"

यहाँ सरला और निजानन्द के बीच कुछ प्रश्नोत्तर हुए, जो इसप्रकार हैं –

प्रश्न – "यदि तदभाव को न माना जाय तो क्या हानि है?"

उत्तर – "द्रव्य में अनेक गुणों की सिद्धि सम्भव नहीं है, अथवा सब गुण मिलकर एक हो जायेंगे।"

प्रश्न – "सहभावी विशेषों (गुणों) में कौन सा अभाव है ?"

उत्तर – "तदभाव"

प्रश्न – "द्रव्य के स्व-चतुष्टय में अर्थात् स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल एवं स्वभाव में कौन सा अभाव है ?"

उत्तर – "केवल तदभाव; क्योंकि उन सबमें प्रदेशभेद नहीं है।"

निजानन्द ने समझाया – "सारांश यह है कि – चारों/पाँचों अभावों के समझने से पूर्णस्वाधीनता का भाव जागृत हो जाता है, परद्रव्यों से सभी प्रकार की आशा की चाह समाप्त हो जाती है। इसकारण न दीनता-हीनता का भाव रहता है और न भय एवं आशा ही रहती है।"

सरला ने कहा – "अजी, सचमुच यह अभाव का प्रकरण भी वस्तु की स्वाधीनता का भाव जागृत करने के लिये कोई अद्भुत सिद्धान्त है। जैसे – अग्नि के प्रज्वलित होने में वायु के तेज झकोरों का योगदान होता है, ठीक वैसे ही सम्यग्ज्ञान की ज्योति को जलाये रखने में इन अभावों का योगदान है।"

"सरला ! बात तो तुम ठीक ही कह रही हो; पर यह बताओ

कि क्या तुम्हारी समझ में ये सभी अभाव अच्छी तरह आ गये ?"

"हाँ, हाँ; बिल्कुल आ गये। आप चाहें तो इनके बारे में कैसे भी प्रश्न पूछ सकते हैं।" – सरला ने आत्मविश्वास से कहा।

निजानन्द ने पूछा – "अच्छा तो बताओ ! **'ब्राह्मी बूटी खाने से बुद्धि बढ़ती है'**– ऐसा मानने वाला किस अभाव के स्वरूप को समझने में क्या भूल करता है ?"

सरला ने निर्भयता के साथ उत्तर दिया – "ऐसा जीव अत्यन्ताभाव के स्वरूप को नहीं जानता; क्योंकि ब्राह्मी बूटी पुद्गल द्रव्य है और बुद्धि जीव के ज्ञानगुण का परिणाम है। जब इन दो अत्यन्त भिन्न-भिन्न द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है तो ब्राह्मी बूटी बुद्धि कैसे बढ़ा सकती है ? हाँ यदि बुद्धि अपनी स्वतन्त्र योग्यता से अपने स्वकाल में बढ़े तो उस काल में ब्राह्मी बूटी भी तदनुकूल होने से बाह्य निमित्त हो सकती है, परन्तु वह ब्राह्मी बूटी बुद्धि के विकास की कर्त्ता नहीं है।"

निजानन्द ने कहा – "बहुत अच्छा ! और जो ऐसा मानता हो कि - **'ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में ज्ञान का विकास होता है'** तो उसने किस अभाव को नहीं माना ?"

"उसने भी अत्यन्ताभाव को नहीं माना; क्योंकि यहाँ पौद्गलिक ज्ञानावरण द्रव्यकर्म और आत्मा के क्षयोपशम ज्ञान में अत्यन्ताभाव है। यद्यपि यह अन्तरंग निमित्त है, परन्तु क्षयोपशम ज्ञान का कर्त्ता यह भी नहीं है। शास्त्रों में जो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को ज्ञान के विकास का कारण लिखा है, वह तो केवल कार्य के काल में नियम से होने वाले अन्तरंग निमित्त का ज्ञान कराया है। अतः उस वस्तुस्वातन्त्र्य के कथन से इस कथन में कोई विरोध नहीं है।"

निजानन्द ने कहा – "ठीक है, यह भी तुम्हारी समझ में

अच्छी तरह आ गया। अब यह बताओ कि **'कर्म के उदय से शरीर में रोग होते हैं'** – ऐसा यदि कोई मानता है, तो इसमें उसने किस अभाव के सम्बन्ध में क्या भूल की ?"

सरला का उत्तर था – "कर्म का उदय कार्माण शरीर की कर्म वर्गणायें हैं और शरीर का रोग औदारिक शरीर की औदारिक वर्गणायें हैं। दोनों की वर्तमान पर्यायों में अन्योन्याभाव है; क्योंकि दोनों पुद्गल हैं। फिर भी यदि कोई ऐसा मानता है कि कर्म के कारण रोग होता है तो उसने अन्योन्याभाव को नहीं माना।

यद्यपि करणानुयोग शास्त्रों में ऐसा कथन भी आता है; परन्तु वहाँ मात्र निमित्त का ज्ञान कराया है। अतः दोनों कथनों में यहाँ भी कोई विरोध नहीं समझना।"

"वाह! तुमने मात्र प्रश्न का उत्तर ही नहीं दिया; उसे विस्तार से समझा भी दिया है।" – निजानन्द ने प्रोत्साहन देते हुए आगे कहा –

"बस, अब हमारा उद्देश्य पूरा हो गया। अब तो तुम लोग स्वयं अपना स्वतन्त्र महिला स्वाध्याय मण्डल भी चला सकती हो। मेरी तो यही मंगल भावना है कि – आप सब लोग इस दिशा में सदैव सक्रिय रहें और तत्त्व के प्रचार-प्रसार के कार्य में जो भी सम्भव हो, सदैव कुछ न कुछ आयोजन करती ही रहें। यही अपने उपयोग और परिणति को निर्मल रखने का उपाय है। भूमिकानुसार भावना तो सदैव ऐसी ही होती है। साथ में श्रद्धा में यह दृढ़ विश्वास भी रहता है कि – होगा तो वही, जो होना है।

बस, यह भावना और ऐसी श्रद्धा ही जीवों को सुख-शान्ति और समता सहित तथा आधि-व्याधि-उपाधि से रहित समाधि को प्राप्त करा देती है।"

●

बीस

"समाधि ..... समाधि ..... समाधि .....। पर, अभी से यह समाधि की चर्चा किस लिए ? अभी उम्र ही क्या है ? अभी तो षष्ठी पूर्ति मनाने का मौका भी नहीं मिला। यदि अभी से समाधि की सोचेंगे तो 'साठा सो पाठा' कहावत का क्या होगा ? लोग तो शतायु की कामना करते हैं और हम अभी से समाधि की सोचने लगे। ना, बाबा ना; हमें यह बात पसन्द नहीं है।

अरे ! यह तो मरण समय धारण करने की वस्तु है न ? फिर अभी यहाँ इस चर्चा का क्या औचित्य है ? क्या यहाँ यह चर्चा शादी-ब्याह के प्रसंग पर मौत की ध्वनि बजाने जैसी अपशकुन की बात नहीं है ?"

सरला इन विचारों में डूबी थी, तभी निजानन्द ने मधुर सम्बोधन में कहा – "अरे ! श्रीमतीजी ! तुम कहाँ खो गई हो ? किन विचारों में डूब गई हो ?"

सरला विचारों में खोई रही, उसने निजानन्द के प्रश्न पर ध्यान ही नहीं दिया। पता नहीं सरला को समाधि शब्द सुनकर कैसा लगा ? वह सहज नहीं रह पायी।

निजानन्द ने पुनः प्रश्न किया – "आखिर बात क्या है ? तुम इतनी गम्भीर क्यों हो गई हो ? क्या सोच रही हो ?"

सरला ने कहा – "मैं आपके मुँह से समाधिमरण की

बात नहीं सुन सकती। अतः आप इस बात को कभी मुँह पर ही न लायें तो अच्छा है। इस की मात्र चर्चा से ही मुझे अपना भविष्य अन्धकार में डूबा नजर आने लगता है।"

निजानन्द ने सरला की मनःस्थिति को देखकर, उसकी समस्या को सुनकर उसे समझाने का प्रयत्न किया – "सरला ! तुम्हें सुनने या समझने में कहीं भ्रम हो रहा है।

यद्यपि नारी स्वभाव की सुलभ कमजोरी के कारण तुम्हारी झुँझलाहट स्वाभाविक ही है; परन्तु यहाँ समाधि की चर्चा की जा रही है, न कि समाधिमरण की। तुम्हें मेरे प्रति तीव्र राग भाव होने के कारण मेरे 'समाधिमरण' की चर्चा से क्षोभ हो सकता है, पर यहाँ तो समाधिमरण की चर्चा ही नहीं है। यह तो समाधि की चर्चा है। इस चर्चा से तो एतराज नहीं होना चाहिए; क्योंकि समाधि तो सुखी जीवन जीने की कला है। इसका 'मरण' से क्या सम्बन्ध ?

जरा समझने की कोशिश करो ! 'समाधि' और 'समाधि मरण' – दोनों बिल्कुल अलग-अलग विषय हैं। जब समाधि की बात चले तो उसे 'मरण' से न जोड़ा करो; क्योंकि दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। समाधि यदि वृक्ष है तो समाधि मरण उसका फल है। समाधि-मरण के समय तो समाधिरूप वृक्ष में लगे समता के फल खाये जाते हैं।

सरला ! समाधि तो हमारा जीवन है, सुखी जीवन का नाम ही तो समाधि है, यह मृत्यु का सन्देश नहीं है। ऐसा सुखी जीवन जीने की कला का ज्ञान और उसका अभ्यास तो जीवन के मध्याह्न में ही करना होगा, यौवन में ही करना होगा; तभी तो हमें अन्त समय में सुख, शान्ति व समता के फल प्राप्त हो सकेंगे।

देखो न ! किसी कवि ने कितना स्पष्ट कहा है –

दर्शन–ज्ञान–चरित को, प्रीति सहित अपनाय ।
च्युत न होय स्वभाव से, वह 'समाधि' फल पाय ।।

जो अपने जीवन के मध्याह्न में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्रीतिपूर्वक अपनायेंगे, अपने ज्ञायक स्वभाव का आश्रय करेंगे, उससे भ्रष्ट नहीं होंगे; वे ही समाधि के सुखद फल प्राप्त करेंगे।

"साम्यभावों से, निष्कषाय भावों से, निराकुलता से समतापूर्वक सुखी जीवन जीने को ही 'समाधि' कहते हैं।

'समाधि' को मरण से जोड़ने की जरूरत नहीं है। हाँ, जिसका जीवन समाधिमय हो जाता है, उसका मरण जब भी होता है ,समाधिपूर्वक ही होता है। अतः यदि प्रसंगवश बीच में कहीं मरण की चर्चा आ भी जाती है तो उससे भी घबरायें नहीं। उसे अपशकुन न माना जाए। मानव को मात्र सजग व सावधान करने के लिए, जीवन के शेष क्षण सफल बनाने के लिए तथा सम्वेग भावना जगाने के लिए मौके-मौके पर मौत का ज्ञान करना भी तो जरूरी है। इसीलिए तो बारह भावनाओं में अनित्य भावना द्वारा जीवन को आकाश में चमकती चपला और इन्द्रधनुष की उपमा दी गई है।

समाधिमरण की चर्चा में भी अपशकुन जैसा तो कुछ भी नहीं है। सचमुच तो इस कल्याणकारी चर्चा को अपशकुन मानना ही अपशकुन है । हमें उस खरगोश वाली वृत्ति को तो छोड़ना ही होगा, जो मौत को सामने खड़ा देख अपने ही कानों से अपनी आँखें बन्द कर लेता है, मूँद लेता है। आखिर मरण भी तो पर्याय का सत्य है। एक न एक दिन उसका सामना भी तो करना ही पड़ेगा न ? संसार में कोई अमर होकर तो आया नहीं है।

जगत में जितने भी जीव जन्म लेते हैं, वे सभी मरते तो हैं ही न ? तो फिर इस अटल सत्य से इन्कार कैसे किया जा सकता

है ? प्रतिपल, असंख्य जीवों की मृत्यु होती रहती है; उसकी तो कोई चिन्ता नहीं और अपनी या अपनों की मौत की चर्चा भी नहीं सुहाती। यह कैसी विडम्बना है ? अस्तु !

देखो सरला ! मृत्यु की चर्चा मात्र से इस तरह चिढ़ने और घबराने से बात नहीं बनेगी, मृत्यु के स्वरूप को सुनना/ समझना तो पड़ेगा ही। हाँ, यदि हम चाहें तो मृत्यु को मृत्यु के रूप में न देख कर उसे एक महोत्सव के रूप में देख सकते हैं; परन्तु सभी जीवों की मृत्यु को महोत्सव की संज्ञा नहीं मिल सकती, सभी के मरण को समाधिमरण भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, जिन्होंने अपना जीवन तत्त्वज्ञान के बल पर भेद-विज्ञान के अभ्यास से निज आत्मा की शरण लेकर समाधिपूर्वक जिया हो, निष्कषाय भावों से, शान्त परिणामों से जीवन जिया हो और मृत्यु के क्षणों में देहादि से ममता त्यागकर समतापूर्वक देह त्यागने का संकल्प लिया हो, उनके उस देह त्यागने की क्रिया-प्रक्रिया को ही समाधि-मरण या मृत्यु महोत्सव कहते हैं।"

सरला ने साहस जुटाकर पूछा – "इसप्रकार के 'समाधि' सहित सुखी जीवन जीने के लिए एवं अवश्यंभावी मृत्यु को महोत्सव का रूप देने के लिए हमें सर्वप्रथम क्या करना होगा ?"

निजानन्द ने समझाया – "समाधिमय जीवन जीने के लिए सर्वप्रथम सन्सार से सन्यास लेना होता है। 'स यास' शब्द सुनकर चौंकिये नहीं, गृहस्थ जीवन में भी सन्यासपूर्वक जिया जा सकता है। **सन्यास अर्थात् सन्सार, शरीर व भोगों को असार, नाशवान तथा दुःखरूप व दुःख का कारण मानकर उनसे विरक्त रहना।**

भरत चक्रवर्ती को घर में ही वैरागी कहा जाता था। वे गृहस्थी में रहकर भी सन्यासी ही थे। सन्यास की सर्वत्र यही व्याख्या है। ऐसे **असार सन्सार**, अशुचि शरीर एवं भोगों से विरक्त

होकर आत्मसाधना के पथ पर चलनेवाले भव्यात्माओं को सन्यासी कहा जाता है। साधु तो सन्यासी होते ही हैं, तत्त्वज्ञानी गृहस्थों को भी सन्यास की भावना होती है।

तत्त्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, आत्मा में रमण – ये ही सब समाधि के साधन हैं। वस्तुतः **कषाय रहित शान्त परिणामों का नाम ही समाधि है** । जो सम्यग्दर्शन रूप धर्म वृक्ष का फल है।"

यदि आत्मानुभूति नहीं हुई हो तो आत्मा को जानने/पहिचानने और उसी में जमने/रमने रूप अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप सच्ची समाधि की भावना भी नहीं होती है। ऐसी स्थिति में यदि कोई समाधि के लिए मात्र पर्वत की चोटी पर, पत्थर की चौकी पर, घास के आसन पर पद्मासन से बैठ भी जाता है तथा घास के ही बिछौने पर सोने लगता है और बड़े-बड़े साधुओं के संघ में रहने लगता है, तो भी उसकी ये सब क्रियायें समाधि के साधन नहीं बन सकतीं।

तृण चौकी सिल शैल शिखर नहिं, आत्म-समाधि के आसन।
संस्तर पूजा संघ सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन।।"

सरला ने पूछा – "जिन्हें इन सब में समाधि के साधन नहीं दिखे, उन्हें कहीं तो समाधि के साधन दिखे ही होंगे ?"

"हाँ, हाँ; उन्हें अपने में दिखते हैं। तुम भी देखो न !

अपनी निधि तो अपने में है, बाह्यवस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृगतृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ।।
अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है।।
जो संसार पतन के कारण उन विकल्प जालों को छोड़।
निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आत्मा, फिर-फिर लीन उसी में हो।।

देखा, कितना स्पष्ट कहा है कि – हे आत्मन ! पर से तेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। बाहर के सभी संयोग पर हैं, सारहीन हैं एवं कर्मों के आधीन हैं – ऐसा कहकर अपने आत्मा में रमने एवं सन्सार में परिभ्रमण की कारणभूत इष्ट-अनिष्ट कल्पनाओं को छोड़ने की प्रेरणा दी है।

तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ अज्ञानीजनों के पास लौकिक सुखाभासों की एक लम्बी लिस्ट होती है, जिनकी पूर्ति का वे जीवन भर असफल प्रयास करते रहते हैं; परन्तु उनकी इच्छानुसार इनकी न कभी पूर्ति हुई है, न होने की सम्भावना ही है। कदाचित् भाग्योदय से पूर्ति हो भी जाय तो भी जब वे संयोग स्वयं सुख स्वरूप एवं सुखदाता हैं ही नहीं तो उनकी पूर्ति से जीवन सुखी होगा कैसे ? इस सन्दर्भ में मोक्षमार्गप्रकाशक में आया पण्डित टोडरमलजी का कथन द्रष्टव्य है, जिसका सारांश यह है –

दुख का लक्षण आकुलता है और आकुलता इच्छा होने पर होती है । इन सन्सारी जीवों की इच्छाएँ अनेक प्रकार की पायी जातीं हैं, जिनकी पूर्ति त्रिकाल सम्भव नहीं है । जैसे कि –

पाँचों इन्द्रियों के विषय-ग्रहण की इच्छा। इसके सद्भाव में जबतक विषय सामग्री न मिले; तबतक मन व्याकुल रहता है।

कषायभावों के अनुसार कार्य करने की इच्छा। इसके सद्भाव में जबतक कषायवश किसी का भला-बुरा करने की इच्छा पूर्ण न हो, तबतक यह जीव दुःखी व्याकुल रहता है।

पापोदय-जन्य प्राकृतिक/अप्राकृतिक रोगों एवं क्षुधा-तृषा आदि की पीड़ा होने पर उन्हें दूर करने की इच्छा होती है, इसे पापोदय की इच्छा कहते हैं। रोग-पीड़ा, क्षुधा आदि का संयोग होने पर उन्हें दूर करने की इच्छा होती है; परन्तु पापोदय के कारण जबतक ये दूर न हों, तबतक यह जीव दुःखी रहता है।

कदाचित् पुण्योदय से नाना भोग-सामग्री एक साथ मिल भी जाय; परन्तु उसे एक साथ भोगना सम्भव नहीं होता। अतः हापड़े मारता है और महा दुःखी रहता है। इसे पुण्योदय की इच्छा कहा है।

उपर्युक्त एक-एक प्रकार की इच्छाओं में अनेक (अनन्त) प्रकार की इच्छायें होती हैं; जिनकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। इसकारण सन्सार में सभी जीव व्याकुल रहने से अनन्त दुःखी रहते हैं।

प्राणियों का आशारूपी गड्ढा इतना बड़ा है, जिसमें समस्त विश्व का वैभव **'ऊँट के मुँह में जीरे'** की भाँति अत्यल्प है, अणुमात्र है। जरा सोचो तो सही कि – यदि बँटवारा करें तो किसे क्या मिलेगा ? अतः विषयेच्छा व्यर्थ है।

लोक में जितने भी जीव हैं, जीवन तो सभी जीते ही हैं; पर वह जीवन वस्तुतः जीवन ही नहीं है, जो मर-मर कर जिया जाय, मरणतुल्य मानसिक और शारीरिक वेदना को भोगते हुए जिया जाय। क्या वह जीवन भी कोई जीवन है, जो दिन-रात रोते-रोते बीते ? दुःख के अथाह सागर में डूबे-डूबे बीते ?

अपनी-अपनी समझ के अनुसार सुखी रहने के, सुख पूर्वक जीवन जीने के उपाय तो सभी करते ही हैं; परन्तु जिन्होंने सन्सार के दुखों में ही सुख की कल्पना कर ली हो, जो सान्सारिक दुखों को ही सुख समझ बैठे हों; उन्हें सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

जिन्हें निराकुल सुख की पहिचान ही नहीं हो, जिन्हें सुखी जीवन जीने की कला ही नहीं आती हो, भला वे **सुखी जीवन** कैसे जी सकते हैं ? समाधिमय जीवन कैसे जी सकते हैं ?

'समस्त विकल्पों के नाश होने को परमसमाधि कहते हैं।'

इसे ही ध्यान के प्रकरण में ऐसा कहा जाता है कि - **'ध्येय**

और ध्याता का एकीकरणरूप समरसीभाव ही समाधि है।'

'बाह्यजल्प और अन्तर्जल्प के त्यागरूप तो योग है तथा स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।'

इसप्रकार जहाँ भी आगम में समाधि की चर्चा आई है, उसे जीवन साधना, आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विकल्प भावों से ही जोड़ा है। **अतः समाधि का अर्थ शेष जीवन को निष्कषाय भाव से समतापूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द व आत्मानुभूति के साथ जीना ही है, जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा के आश्रय से होता है।**

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल पर जिनके जीवन में ऐसी समाधि होगी, उनका मरण भी नियम से समाधिपूर्वक ही होगा। एतदर्थ हमें अपने जीवन में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों – वस्तु स्वातन्त्र्य, अकर्तावाद, चार अभाव, पाँच समवाय, छह द्रव्य, छह सामान्यगुण एवं षट्कारक आदि जिनकी संक्षिप्त चर्चा यथास्थान आ चुकी है, की समय-समय पर अपनी सुविधानुसार पुनरावृत्ति अवश्य करते रहना चाहिए; क्योंकि वस्तुतः यही वीतरागता प्राप्त करने का विज्ञान है, यही **सुखी जीवन जीने की कला है।"**

•

इक्कीस

जब निजानन्द ने सरला को उसकी बीमारी के बारे में बताया तो सरला ने कहा – "भले आपने अभी तक मुझे नहीं बताया, पर मैंने आपके चेहरे को पढ़कर पहले ही सब कुछ समझ लिया था। अब आप चिन्ता न करो; डॉक्टरों का काम डॉक्टरों को करने दो, मैं उसमें हस्तक्षेप नहीं करूँगी; पर आपसे इतना निवेदन अवश्य करती हूँ कि आपने मुझे समाधि का स्वरूप समझाया, सुखी जीवन के सिद्धान्त समझाये। यह सब करके आपने मेरे जीवनमन्दिर का निर्माण तो कर दिया, अब इस पर समाधि मरण का स्वर्ण कलश भी चढ़ा दो – मैं आपके इस उपकार को जनम-जनम में नहीं भूल सकती।

सन्सार बढ़ानेवाले पति तो सबको मिलते हैं, पर मुझे तो मेरा संसरण मिटानेवाले पति के रूप में परमेश्वर ही मिल गये हैं। आपके सान्निध्य से सचमुच मेरा जीवन धन्य हो गया है। सबको आप जैसा ही पति मिले – यह मेरी हार्दिक कामना है।"

सरला की भावना सुनकर निजानन्द गद्-गद् हो गया। उसे अपना श्रम सार्थक लगने लगा। उसने आश्वस्त किया –

"सरला ! तुम निराश मत होओ। अभी तुम्हें समाधि की साधना के लिए और भी अवसर प्राप्त होगा। मुझे विश्वास है, तुम्हारा आपरेशन सफल होगा।"

"ठीक है, आपकी भावना अच्छी है; परन्तु अब मैं पूर्ण निर्भय

हूँ, निश्चिन्त हूँ, निर्भार हूँ। अब तो मैंने अपने मानस को हर तरह से तैयार कर लिया है। **'चाहे लाखों बरसों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे'** अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है। यदि बची भी रहूँगी तो आपके माध्यम से जिनवाणी को जन-जन तक पहुँचाने का ही एक मात्र काम करूँगी। अब तो शुद्धातम और पञ्चपरमेष्ठी ही मेरे शरणभूत हैं।"

"ठीक है, मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि तुम प्राप्त तत्त्वज्ञान का सही सदुपयोग कर रही हो। अब हम भी तुम्हारी भावना के अनुसार समाधि एवं समाधिमरण की ही चर्चा करेंगे। यह चर्चा भी तुम्हारे विचारों को बल प्रदान करेगी।

देखो, जिन्होंने वस्तुस्वातन्त्र्य और अकर्तृत्व जैसे सिद्धान्तों को समझकर अपना जीवन समता और समाधिपूर्वक निराकुल सुख से जिया हो, उनका मरण भी समाधिपूर्वक ही होता है, समतापूर्वक ही होता है।

वस्तुतः आधि-व्याधि एवं उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम ही समाधि है।

आधि – मानसिक रोग, क्रोधादि विकारीभाव।

व्याधि – शारीरिक रोग ।

उपाधि – परकृत उपद्रव या कर्तृत्त्व का अहंकार बढ़ाने वाली दूसरों द्वारा प्रदत्त यशवर्द्धक उपाधियाँ आदि।

जो इन तीनों **आपदाओं** से अप्रभावित रहते हैं, इनसे जिनका चित्त आन्दोलित नहीं होता; वे ही समाधि की साधना में सफल होते हैं।

ध्यान रहे, जिसने जीवन में कभी निराकुल सुख का अनुभव ही न किया हो, जिन्हें जीवनभर मुख्यरूप से आर्तध्यान व रौद्रध्यान ही रहा हो; उनका मरण कभी नहीं सुधर सकता। जब उनका जीवन

ही समाधि सम्पन्न नहीं हो पाया तो उनका मरण समाधिपूर्वक कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

आगम के अनुसार जिसका आयुबन्ध जिसप्रकार के विशुद्ध या संक्लेश परिणामों में होता है, उसका मरण भी वैसे ही परिणामों में होता है। अतः ऐसा कहा जाता है कि **जैसी गति वैसी मति**। अतः यदि कुगति में जाना पसन्द न हो तो मति को सुमति बनाना एवं विचारों को व्यवस्थित करना आवश्यक है।

जिन्हें सन्यास व समाधि की भावना होती है, उन्हें ऐसे तत्त्वज्ञान और वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ एवं उसके बारम्बार विचार से निश्चित ही विशुद्ध परिणाम होते हैं, उन विशुद्ध परिणामों से शुभ आयु एवं शुभगति का ही बन्ध होता है। अन्यथा ऐसे उत्तम विचार होना ही सम्भव नहीं है।

मोही जीवों को तो मृत्यु इष्टवियोग का कारण होने से दुःखद ही लगती है। भला मोही जीव इस अन्तहीन वियोग की निमित्तभूत दुःखद मृत्यु को महोत्सव का रूप कैसे दे सकते हैं? जिनका जीवन सुख-शान्ति एवं निराकुलता में बीतता है, उन्हीं का मरण समाधिपूर्वक होता है। इसीलिए कहा गया है कि **हमें मरण सुधारने के बजाय जीवन सुधारने का प्रयास करना होगा।**

मृत्यु को महोत्सव बनानेवाला मरणोन्मुख व्यक्ति जीवन भर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिकरूप से अपने आत्मा को अजर-अमर, अनादि-अनन्त, नित्य विज्ञानघन व अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप ही अनुभव करता है, आत्मा के त्रैकालिकस्वरूप के चिन्तन-मनन द्वारा तथा देह से देहान्तर होने की क्रिया को सहज भाव से स्वीकार करके चिर विदाई के लिए तैयार हो जाता है। साथ ही चिर विदाई देनेवाले कुटुम्ब-परिवार के विवेकी व्यक्ति भी बाहर से वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते हैं, तब कहीं वह मृत्यु

महोत्सव बन पाती है।

कभी-कभी अज्ञानवश मोह में मूर्च्छित हो परिजन-पुरजन अपने प्रियजनों को मरणासन्न देखकर या उनके मरण की सम्भावना से ही रोने लगते हैं। इससे मरणासन्न व्यक्ति यदि भावुक हो या अन्तर्मुखी पुरुषार्थ में कमजोर हुआ तो उसके परिणामों में संक्लेश होने की सम्भावना बढ़ जाती है। अतः ऐसे वातावरण से उसे दूर ही रखना चाहिए।"

सरला के पास बैठी सुनीता ने प्रथमानुयोग की कथायें ही अधिक पढ़ी-सुनी थीं; अतः निजानन्द के इस प्रवचन से उसके मन में कुछ प्रश्न पैदा हो गये। उसने स्वयं के सामाधान हेतु अपनी जिज्ञासा प्रगट करते हुए विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया —

"जब मृत्यु के समय कान में णमोकार मन्त्र सुनने-सुनाने मात्र से मृत्यु महोत्सव बन जाती है, तो फिर जीवनभर तत्त्वाभ्यास की क्या जरूरत है ? जैसा कि जीवन्धरचरित्र में आई कथा से स्पष्ट है। उस कथा में तो साफ-साफ लिखा है कि जीवन्धर कुमार के द्वारा मरणासन्न कुत्ते के कान में णमोकार मन्त्र सुनाया गया था, जिसके फलस्वरूप वह कुत्ता स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों का धारक देव बना। इस कथा का क्या अभिप्राय है ?"

निजानन्द ने कहा – "अरे सुनीता ! तुम्हें तो प्रथमानुयोग के शास्त्रों का अच्छा स्वाध्याय है ! यह तो बहुत अच्छी बात है ! वस्तुतः स्वाध्याय स्वयं सर्वसमाधानकारक है। अब तुम प्रतिदिन नियमित एक घण्टा समयसार आदि आध्यात्मिक शास्त्रों का भी स्वाध्याय अवश्य किया करो। इसी में मानव जीवन की सार्थकता है।"

"मैंने अभीतक अधिकांश कथा-पुराण ही तो पढ़े हैं, मेरे पीहर में इन्हीं के पढ़ने की प्रथा है, अध्यात्म की बात तो कोई

करता ही नहीं, सम्भवतः कोई समझता भी नहीं है।"

"हाँ तो सुनो! यद्यपि यह कथा अपनी जगह पूर्ण सत्य है, पर इसके यथार्थ अभिप्राय व प्रयोजन को समझने के लिए प्रथमानुयोग की कथनपद्धति को समझना होगा। एतदर्थ पण्डित टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक का निम्न कथन द्रष्टव्य है –

'किसी ने उपवास किया, उसका फल तो अल्प था; परन्तु उसे अन्य धर्म परिणति की विशेषता हुई, इसलिए उच्चपद की प्राप्ति हुई, वहाँ उसको उपवास का फल निरूपित करते हैं ।

जिसप्रकार किसी ने नमस्कार मन्त्र का स्मरण किया व अन्य धर्मसाधन किया; उसके कष्ट दूर हुये, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हें वैसा का वैसा फल नहीं हुआ; परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए; तथापि उनका मन्त्र-स्मरणादि का फल ही निरूपित करते हैं .....'

यदि तुम्हारे प्रश्न को हम पण्डित टोडरमलजी के उपर्युक्त कथा के सन्दर्भ में देखें तो उस कुत्ते को न केवल णमोकार मन्त्र के कान में पड़ने मात्र से स्वर्ग की प्राप्ति हुई; बल्कि उससमय उसकी कषायें भी मन्द रहीं होंगी, परिणाम भी विशुद्ध रहे होंगे। निश्चित ही वह जीव अपने पूर्व भवों में धार्मिक संस्कारों से युक्त रहा होगा। परन्तु प्रथमानुयोग की शैली के अनुसार णमोकार महामन्त्र के द्वारा पञ्च परमेष्ठी के स्मरण कराने की प्रेरणा देने के प्रयोजन से उसके स्वर्ग प्राप्ति को णमोकार मन्त्र श्रवण का फल निरूपित किया गया है; जो सर्वथा उचित ही है और प्रयोजन की दृष्टि से पूर्ण सत्य है।

जिनवाणी के सभी कथन शब्दार्थ की मुख्यता से नहीं, बल्कि मतार्थ की मुख्यता से किए जाते हैं। अतः शब्द म्लेच्छ न होकर अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।"

सुनीता ने पूछा – "मृत्यु को महोत्सव का रूप क्यों दिया जाता है ? क्या मृत्यु जैसे दुःखद प्रसंग को महोत्सव का रूप देना लोकदृष्टि से निंद्य नहीं कहा जायेगा? मृत्यु पर जहाँ सारी दुनिया आँसू बहाती है, शोक मनाती है; वहीं आप मृत्यु जैसे दुःखद प्रसंग को महोत्सव का रूप देना चाहते हैं, यह कहाँ तक उचित है ?"

निजानन्द ने समझाया – "यद्यपि लोकदृष्टि में लोकविरुद्ध होने से तथा चिरवियोग का प्रसंग होने से मृत्यु को अन्य उत्सवों की भाँति खुशियों के रूप में तो नहीं मनाया जा सकता; पर तत्त्वज्ञानियों द्वारा राग से ऊपर उठकर वीतरागतापोषक वातावरण द्वारा मृत्यु को महोत्सव का रूप तो दिया ही जा सकता है।"

"आपके अध्यात्म में जो पूजा-पाठ, भक्ति, व्रत, उपवास, संयम आदि के शुभभावों को हेय बताकर छोड़ने को कहा है, वह कहाँ तक उचित है ?" – विनीता ने जिज्ञासा प्रगट की।

"व्रतों का शुभराग भी मोक्ष का कारण नहीं है; बल्कि यह शुभराग मोक्ष प्राप्ति में बाधक है; इसकारण छोड़ने लायक कहा है। हाँ, ध्यान रहे; उपदेश सदा ऊपर चढ़ने को दिया जाता है; अतः शुभ को हेय सुनकर शुभ को छोड़, अशुभ में जाना योग्य नहीं है। शुभ को छोड़कर शुद्धोपयोग में जाने के लिए शुभ को हेय कहा गया है, न कि अशुभ में जाने के लिए।

सर्वप्रथम, ऐसे यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए कि मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव में ही है, राग में मोक्षमार्ग नहीं है। राग तो अशुभ हो या शुभ – सभी प्रकार का हेय ही होता है। भले वह राग अरहन्त व सिद्ध भगवान की भक्ति का ही क्यों न हो? है तो आखिर राग ही न ? इसलिए जो भी भगवान जिनेन्द्र द्वारा निरूपित इस सत्य तथ्य को समझेगा, उसे ही वीतराग भगवान के प्रति सच्ची भक्ति जागृत होगी।"

विनीता ने पुनः प्रश्न किया – "संन्यास, समाधि और सल्लेखना में क्या अन्तर है, क्या ये पर्यायवाची नहीं हैं ?"

"यद्यपि सन्यास, समाधि व सल्लेखना एक पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु संन्यास समाधि की पृष्ठभूमि है, पात्रता है। सन्यास सन्सार, शरीर व भोगों से विरक्तता है और समाधि समताभाव या कषायरहित शान्तपरिणामों का नाम है तथा सल्लेखना जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दों से मिलकर बना है – सत् + लेखना = सल्लेखना। इसका अर्थ होता है – सम्यक् प्रकार से काय व कषायों को कृश करना।

जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा अथवा असाध्य रोग आदि ऐसी अपरिहार्य परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण धर्म साधना, आत्म-आराधना एवं व्रतादि का पालन करना सम्भव न रहे तो आत्मा के आश्रय से कषायों को कृश करते हुए अनशनादि तपों द्वारा काय को भी कृश करके धर्मरक्षार्थ मरण को वरण करने का नाम सल्लेखना है । इसे ही मृत्यु महोत्सव कहते हैं।

आत्म-साधक पुरुष एवं महिलायें उपर्युक्त परिस्थिति में प्रीतिपूर्वक प्रसन्नचित्त से बाह्य में शरीरादि संयोगों को एवं अन्तरंग में राग-द्वेष आदि कषायभावों को क्रमशः कम करते हुए परिणामों में शुद्धि की वृद्धि के साथ शरीर का परित्याग करते हैं, बस यही सल्लेखना का संक्षिप्त स्वरूप है।"

सरला ने सन्तोष प्रगट करते हुए उत्साहित होकर कहा– "सुनीता-विनीता के प्रश्न करने से सन्यास, समाधि व सल्लेखना का सामान्य स्वरूप तो समझ में आ गया; परन्तु मरण, समाधि मरण एवं सल्लेखना के बारे में थोड़ा विस्तार से स्पष्ट हो सके तो उत्तम होगा।"

"देखो, सरला मरण और समाधि मरण – दोनों मानवजीवन

के अन्तकाल की बिलकुल भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं । यदि एक पूर्व है तो दूसरा पश्चिम। एक अनन्त दुःखमय और दुःखद है तो दूसरा असीम सुखमय व सुखद। मरण की दुःखद स्थिति से सारा जगत सुपरिचित तो है ही, भुक्त-भोगी भी है; पर समाधिमरण की सुखानुभूति का सौभाग्य विरलों को ही मिल पाता है ।

आत्मा की अमरता से अनभिज्ञ अज्ञजनों की दृष्टि में 'मरण' सर्वाधिक दुःखद, अप्रिय, अनिष्ट व अशुभ प्रसंग के रूप में ही मान्य रहा है। उनके लिए **मरण** एक ऐसी अनहोनी अघट घटना है, जिसकी कल्पनामात्र से उनका कलेजा काँपने लगता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, हाथ-पाँव फूलने लगते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगता है, मानों उन पर कोई ऐसा अप्रत्याशित अनभ्र वज्रपात होनेवाला है, जो उनका अस्तित्व ही समाप्त कर देगा। ऐसी स्थिति में उनका मरण **'समाधिमरण'** में परिणत कैसे हो सकता है ?

मरणकाल में चारित्रमोह के कारण यद्यपि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानी के तथा मोही-मिथ्यादृष्टि अज्ञानी के बाह्य व्यवहार में कोई खास अन्तर दिखाई नहीं देता। दोनों को एक जैसा रोते-बिलखते, दुःखी होते भी देखा जा सकता है; फिर भी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि व अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के मृत्युभय में जमीन-आसमान का अन्तर होता है; क्योंकि उनकी श्रद्धा में महान अन्तर होता है।

जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है, वहीं ज्ञानी मरणकाल में वस्तुस्वरूप के चिन्तन से साम्यभावपूर्वक देह विसर्जित करके मरण को **'समाधिमरण'** में एवं मृत्यु को **'महोत्सव'** में परिणत कर उच्चगति प्राप्त करता है।

यदि दूरदृष्टि से विचार किया जाय तो मृत्यु जैसा मित्र अन्य कोई नहीं है, जो जीवों को जीर्ण-शीर्ण-जर्जर तनरूप कारागृह

से निकाल कर दिव्य देहरूप देवालय में पहुँचा देता है।

'मृत्युराज उपकारी जिय कौ, तन सों तोहि छुड़ावै ।
नातर या तन बन्दीगृह में, पड़ौ-पड़ौ विललावै ॥'

कल्पना करें, यदि मृत्यु न होती तो जन्म भी नहीं होता। ऐसी स्थिति में विश्व की व्यवस्था कैसी होती ?

जगत में वृद्ध ही वृद्ध होते; बूढ़ों से ही दुनिया भरी होती; क्योंकि जब कोई मरता ही नहीं तो कोई जन्मता भी कहाँ से ? जन्म और मरण का तो जोड़ा है न ? इस तरह तो समस्त विश्व-व्यवस्था ही गड़बड़ा गई होती।

भले कोई मरना नहीं चाहता; पर मृत्यु तो अनिवार्य ही है न ? जब मरना ही है तो फिर मृत्यु को मजबूरी न मानकर महोत्सव के रूप में ही क्यों न मनाया जाये ?

अरे ! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो मृत्यु कोई गम्भीर समस्या ही नहीं है; क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। तत्त्वज्ञानी यह अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये भवन में निवास करने के समान स्थानान्तरण मात्र है, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतार कर नया वस्त्र धारण करने के समान है।

जिसने जीवनभर पापाचरण ही किया हो, आर्त्त-रौद्रध्यान ही किया हो, नरक-निगोद जाने की तैयारी ही की हो, उसका तो रहा-सहा पुण्य भी अब क्षीण हो रहा है, उस अज्ञानी और अभागे का दुःख कौन दूर कर सकता है ? अब तो उसके मरण सुधारने का अवसर ही समाप्त हो गया है; क्योंकि उसकी तो अब **गति के अनुसार मति** बिगड़नी ही है, संक्लेश परिणाम होने ही हैं ।

सम्यग्दृष्टि या तत्त्वज्ञानी को देह में आत्मबुद्धि नहीं रहती। वह देह की नश्वरता, क्षणभंगुरता और उसके परायेपन से

भली-भाँति परिचित होता है। वह जानता है, विचारता है कि –

'नौ द्वारे का पींजरा, तामें सुआ समाय।
उड़वे कौ अचरज नहीं, अचरज रहवे माँहि।।'

अतः उसे मुख्यतया तो मृत्युभय होता ही नहीं है। किन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण कदाचित् यह भी सम्भव है कि सम्यग्दृष्टि भी आचरण के स्तर पर मिथ्यादृष्टियों की तरह आँसू बहाये। पुराणों में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं –

रामचन्द्रजी क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, तद्भव मोक्षगामी थे; फिर भी छह महीने तक लक्ष्मण के शव को कन्धे पर ढोते फिरे।

कविवर बनारसीदास की मरणासन्न विपन्न दशा देखकर तो लोगों ने यहाँ तक कहना प्रारम्भ कर दिया था कि – 'पता नहीं इनके प्राण किस मोह-माया में अटके हैं ?'

लोगों की इस टीका-टिप्पणी को सुनकर कण्ठ अवरुद्ध हो जाने से उन्होंने सन्केत द्वारा स्लेट पट्टी माँगी और उस पर लिखा–

'ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगट्यो रूप स्वरूप अनन्त सु सोहना।।
जा परजै को अन्त सत्यकरि जानना।
चले बनारसीदास फेरि नहीं आवना।।

ज्ञानरूपी फरसे से मैंने मोहरूपी अरि (शत्रु) को मार दिया है और मुझे अपने अनन्त ज्ञानानन्दमय स्वरूप की प्राप्ति हो गई है। मैं विनाशीक पर्याय के स्वरूप को भी भली-भाँति जानता हूँ। अतः अब मैं (बनारसीदास) इस सन्सार से सदा के लिए विदा ले रहा हूँ। पुनः सन्सार में नहीं आऊँगा।'

मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखों में आँसू देखकर उसे अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि वह अभी श्रद्धा के स्तर तक ही मृत्युभय से मुक्त हो पाया है। चारित्रमोहजनित कमजोरी

तो अभी है ही। फिर भी वह विचार करता है कि **स्वतन्त्र स्वसञ्चालित अनादिकालीन वस्तुव्यवस्था के अन्तर्गत 'मरण' भी एक सत्य तथ्य है, जिसे न तो नकारा ही जा सकता है, न टाला ही जा सकता है और न आगे-पीछे ही किया जा सकता है।**

यद्यपि ज्ञानी व अज्ञानी अपने-अपने विकल्पानुसार इन प्रतिकूल परिस्थितियों को अन्त तक टालने के भरसक प्रयास करते हैं, तथापि उनके वे प्रयास सफल नहीं होते, हो भी नहीं सकते। अन्ततः इस पर्यायगत सत्य से तो सबको गुजरना ही पड़ता है। जो विज्ञजन तत्त्वज्ञान के बल पर इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं, उनका मरण **'समाधिमरण'** में बदल जाता है और जो अज्ञजन उक्त सत्य को स्वीकार नहीं करते, वे अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से मरकर नरकादि गतियों को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि – ज्ञानीजन स्वतन्त्र-स्व-सञ्चालित विश्व-व्यवस्था के इस प्राकृतिक तथ्य से भली-भाँति परिचित होने से श्रद्धा के स्तर पर मृत्युभय से भयभीत नहीं होते और अपना अमूल्य समय व्यर्थ की चिन्ताओं में बर्बाद नहीं करते। वे समाधि की साधना करते हुए अन्त में सल्लेखना धारण कर मृत्यु का सहर्ष वरण करते हैं।

सल्लेखना में जहाँ काय व कषाय कृश करना मुख्य है, वहीं समाधि में निज शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान प्रमुख है। स्थूलरूप से तीनों एक होते हुए भी साधन-साध्य की दृष्टि से सन्यास समाधि का साधन है और समाधि सल्लेखना का; क्योंकि सन्यास बिना समाधि सम्भव नहीं है और समाधि बिना सल्लेखना अर्थात् कषायों का कृश होना सम्भव नहीं होता।"

निजानन्द समझा रहा था और सरला कान लगाकर उसकी बातें ध्यान से सुन रही थी, बीच-बीच में सिर हिलाकर

सहमति व्यक्त करती जा रही थी।

निजानन्द ने आगे कहा – "तत्त्वज्ञान से एवं वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ जन न केवल समय व शक्ति ही बर्बाद करते हैं, बल्कि आर्त्त-रौद्र ध्यान करके प्रचुर पाप भी बाँधते रहते हैं। यह उनकी सबसे बड़ी मानवीय कमजोरी है। ऐसे लोगों की एक खोटी आदत यह भी होती है कि – जब भी और जहाँ भी वे व्यक्ति बातचीत कर रहे होंगे, निश्चित ही किसी न किसी की बुराई-भलाई या टीका-टिप्पणी ही कर रहे होंगे। उनकी चर्चा के विषय राग-द्वेषवर्द्धक विकथायें ही होंगी।

सामाजिक व राजनैतिक विविध गतिविधियों की आलोचना-प्रत्यालोचना करके वे ऐसा गर्व अनुभव करते हैं, मानो वे ही सम्पूर्ण राष्ट्र का सञ्चालन कर रहे हों। भले ही उनकी मर्जी के अनुसार पत्ता भी न हिलता हो। नये जमाने को कोसना, बुरा-भला कहना व पुराने जमाने के गीत गाना तो मानो उनका जन्म-सिद्ध अधिकार ही है।

उन्हें क्या पता कि इस व्यर्थ की बकवास द्वारा वे आर्त्त-रौद्र ध्यान करके कितना संक्लेश रूप पाप-बन्ध कर रहे हैं, जो कि प्रत्यक्ष कुगति का कारण है।

वैसे तो जैनदर्शन में श्रद्धा रखनेवाले प्राणी मात्र का यह कर्त्तव्य है कि वे तत्त्वज्ञान के आलम्बन से जगत का ज्ञाता-दृष्टा बनकर रहना सीखें; क्योंकि सभी को शान्त व सुखी होना है, आनन्द से रहना है; पर वृद्धजनों का तो एकमात्र यही कर्त्तव्य रह गया है कि जो भी हो रहा है, वे उसके केवल ज्ञाता-द्रष्टा ही रहें, उसमें रुचि न लें, राग-द्वेष न करें; क्योंकि वृद्धजन यदि अब भी सच्चे सुख के उपायभूत समाधि का साधन नहीं अपनायेंगे, तो कब अपनायेंगे ? फिर उन्हें यह स्वर्ण अवसर कब मिलेगा ? उनका

तो अब अपने अगले जन्म-जन्मान्तरों के बारे में विचार करने का समय आ ही गया है। वे उसके बारे में क्यों नहीं सोचते ?

हम देखते हैं कि तत्त्वज्ञान के बिना सन्सार में कोई सुखी नहीं है, अज्ञानी न तो समाधि से जी ही सकता है और न समाधि-मरणपूर्वक मर ही सकता है। अतः हमें आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है।

एक तो यह कि – **भाग्य से अधिक और समय से पहले, किसी को कभी कुछ नहीं मिलता** और दूसरा यह कि – **न तो हम किसी के सुख-दुःख के दाता हैं, न भले-बुरे के कर्ता हैं और न कोई हमें भी सुख-दुख दे सकता है, न हमारा भला-बुरा कर सकता है।**

राजा सेवक पर कितना भी प्रसन्न क्यों न हो जाये; पर वह सेवक को उसके भाग्य से अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे, फिर भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते।

बस ! इसीप्रकार के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण से आत्मा निष्कषाय होकर समाधिमय सुखी जीवन जी सकता है ।

समाधिस्थ ज्ञानी ऐसा सोचते हैं कि – हे आत्मन् ! देखो, तुम्हारा यह पीड़ा-चिन्तन आर्त्तध्यान – संक्लेश परिणाम फिर नये दुःख के बीज बो रहा है। अतः इस पीड़ा पर से अपना उपयोग हटाकर आत्मा पर केन्द्रित करो, जिससे पूर्वबद्धकर्मों की निर्जरा तो होगी ही, नवीन कर्मों का बन्ध भी नहीं होगा।

दुःखद संयोग तो असाताकर्म के उदय में आते हैं, उनमें संयोगीभाव होने से तज्जन्य दुःखों को सहना तो पड़ेगा ही। यदि समतापूर्वक सह लेंगे और तत्त्वज्ञान के बल पर संक्लेश परिणामों से बचे रहेंगे तथा आत्मा की आराधना में लगे रहेंगे तो दुःख के

कारणभूत सभी सञ्चितकर्म क्षीण हो जायेंगे ।

हम चाहे निर्भय रहें या भयभीत, रोगों का उपचार करें या न करें; जो प्रबलकर्म उदय में आयेंगे, उनका फल तो भोगना ही होगा। जबतक असाता का उदय रहता है, तबतक निमित्तरूप से औषधि भी अनुकूल या कार्यकारी नहीं होती। अन्यथा बड़े-बड़े राजा-महाराजा और वैद्य-डॉक्टर तो कभी बीमार पड़ते ही नहीं; क्योंकि उनके पास साधनों की क्या कमी है ? अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे कभी किसी का वश नहीं चलता।

देखो न ! 'द्वारिका द्वीपायन मुनि के निमित्त से जलकर भस्म होगी' – इस भविष्यवाणी को सुनकर द्वीपायन बारह वर्ष के लिए द्वारिका छोड़कर चले गये – फिर भी क्या वे उसे जलाने से बचा पाये ? द्वारिका जली और द्वीपायन मुनि के निमित्त से ही जली।

साधारण मनुष्य तो क्या, असीम शक्ति सम्पन्न इन्द्र व अनन्तबल के धनी जिनेन्द्र भी स्व-समय में होनेवाली सुख-दुःख व जीवन-मरण की पर्यायों को नहीं पलट सकते।"

यह सब सुनकर, समझकर सरला पूरी तरह सन्तुष्ट हो गई थी, उसके चेहरे पर हर्ष की रेखायें उभर आईं थीं, उसे ऐसा लग रहा था जैसे निजानन्द को पाकर उसका तो मानवजीवन ही धन्य हो गया है।

•

बाईस

'करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात तैं, शिल पै परत निशान।।'

सरला ने यह सूक्ति बचपन में गुरुमुख से सुनी थी। तभी से उसे लगा कि – "जब विद्या एवं कला के सतत् अभ्यास से जड़मती अर्थात् अत्यल्प बुद्धिवाले व्यक्ति भी विद्वान बन जाते हैं, तो मैं तो ऐसी जड़मती भी नहीं हूँ। यदि विद्या और कलाओं का अभ्यास करूँगी तो निश्चित सफलता मेरे चरण चूमेगी।"

बस, फिर क्या था; फिर तो वह इस दृढ़ संकल्प के साथ जिस विद्या या कला को प्राप्त करने की ठान लेती, उसे निरन्तर अभ्यास द्वारा प्राप्त करके ही रहती। तभी तो वह बचपन में ही अनेक कलाओं में पारंगत हो सकी थी।

निजानन्द से मार्गदर्शन और प्रेरणा पाकर सरला ने जब तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में कदम रखा तो यहाँ भी उसने कमाल ही कर दिया। विनीता, सुनीता, अनीता आदि सभी सहेलियों को पीछे छोड़ दिया।

सहेलियाँ तो पहले से ही उसकी प्रतिभा से परिचित थीं। वे जानती थीं कि – 'सरला जिस काम के पीछे पड़ जाती, उसे पूरा करके ही दम लेती। जबतक वह गृहस्थी के काम में उलझी है, तभी तक **'दिया तले अन्धेरा'** है। जब ठान लेती है तो फिर उसे कितने ही कष्ट क्यों न झेलने पड़ें, वह अपने संकल्प को पूरा

करके ही छोड़ती है। उसे अपने कर्तृत्व पर पूरा भरोसा था और अभिमान भी। इसकारण वह दूसरों से अपने कार्य की यथायोग्य प्रशन्सा भी चाहती और मान-सम्मान की अपेक्षा भी रखती।

विनीता ने कहा – "पर, ससुराल में आने पर प्रारम्भिक जीवन में यह सब सम्भव नहीं हुआ। ऐसा न होने से वैवाहिक जीवन के पूर्वार्द्ध में उसे झुंझलाहट भी खूब हुई, समय-समय पर क्रोध भी आया और टेन्शन तो बना ही रहा, जो कि तत्त्वज्ञान के अभाव में स्वाभाविक ही था।"

सुनीता ने बात को आगे बढ़ाया – "बचपन में सरला को व्यावहारिकज्ञान एवं धार्मिक संस्कार तो मिले थे, पर स्व-सञ्चालित विश्वव्यवस्था और वस्तुस्वरूप की स्वतन्त्रता जैसे सिद्धान्तों से वह सर्वथा शून्य थी। इसकारण उसमें कर्ताबुद्धि कूट-कूट कर भरी हुई थी और ऐसी स्थिति में कर्तृत्व का अहम् तो स्वाभाविक है ही। उसके उस 'अहम्' की पुष्टि बचपन में तो प्रशन्सा और पुरस्कारों से होती रही, पर ससुराल में आकर वह अहम् उसके लिए अभिशाप बन गया; क्योंकि यहाँ प्रौढ़ावस्था में घरेलू कार्यों में पुरस्कारों का तो प्रश्न ही नहीं था, प्रशन्सा के दो शब्द कहना भी निजानन्द को अटपटा लगता था। वह तो उसके घरेलू कार्यों की प्रशन्सा करने के बजाय, उल्टे उससे तत्त्वाभ्यास करने के लिए ही कहता।

निजानन्द की सतत् प्रेरणा अन्ततोगत्वा सरला पर अपना रंग जमा ही गई। फलस्वरूप एक दिन सरला को बचपन का वह 'करत-करत अभ्यास वाला' महामन्त्र पुनः याद आ गया। बस उसने उससे प्रेरणा ले कर तत्त्वाभ्यास करने के लिए भी कमर कस ली। उसने संकल्प किया कि "अब मैं तत्त्वज्ञान में भी पारंगत होकर ही रहूँगी। भले कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़े ?"

बस फिर क्या था, संकल्प तो उसके जीवन में कभी अधूरे

रहे ही नहीं थे, इस संकल्प में भी वह पीछे कैसे रह सकती थी ? देखो न ! आज वह सब श्रोताओं की अग्रिम पंक्ति में खड़ी हुई है।

निजानन्द से समाधि एवं समाधिमरण का स्वरूप सुनकर समाधिपूर्वक जीवन जीने के उद्देश्य से सरला ने आत्मा का ध्यान और परमात्मा के स्मरण के साथ-साथ वस्तुस्वरूप का चिन्तन-मनन तथा सन्सार, शरीर और भोगों से निर्वृत्ति की कारणभूत बारह भावनाओं एवं वैराग्य भावना का दैनिक पाठ प्रारम्भ कर दिया।

इसके अतिरिक्त जो-जो सिद्धान्त निजानन्द ने पढ़ाये थे, समझाये थे; उनकी भी बारम्बार पुनरावृत्ति करती रहती, ताकि वे विस्मृत न हो जायें।

इन सब प्रयासों से उसे बहुत लाभ हुआ। उसका मरणभय भी कम होने लगा। अब उसे मरण और समाधिमरण की बात सुनकर परेशानी नहीं होती। स्वयं के जीवन में यह परिवर्तन देख अब वह बहुत खुश है। मन ही मन अपने पूज्य पति निजानन्द को लाखों-लाख धन्यवाद देने लगी है। उन्हें पति से भी अधिक गुरु के रूप में मानने लगी है।

* * *

देह व्याधियों का घर तो है ही। कहते हैं इसके एक-एक रोम में ९६-९६ रोग होते हैं। सरला भी इसका अपवाद नहीं थी। उसके पेट में नाभि से नीचे टरेट में बहुत समय से हल्का-हल्का सा दर्द रहा करता था। जबतक वह सह सकी, बेचारी सहती रही। किसी से चर्चा तक नहीं की।

सरला सोचती – "उनसे कहूँ भी तो क्या-क्या कहूँ ? कोई एक-दो बातें हो तो कहूँ भी, रोज़-रोज़ कुछ न कुछ कहीं न कहीं तकलीफ तो होती ही रहती है। फिर वे भी तो इन्सान ही हैं, कितने काम हैं उनके सामने ? कितनी समस्यायें हैं ? घर की-बाहर की।"

यही सब सोचकर जहाँ तक बना, वह अपनी बीमारी की बात टालती रही। छोटी-मोटी शारीरिक व्याधियाँ समझ कर उपेक्षा करती रही।

एक दिन जब वह असह्य पीड़ा से बहुत परेशान हो गई तो दिल का दर्द मुँह पर आ ही गया।

निजानन्द ने पूछा – "क्या बात है ? कराह क्यों रही हो ?"

सरला ने कहा – "कुछ नहीं, थोड़ा सा पेट में दर्द हो रहा है।"

निजानन्द चिन्ता के स्वर में बोला – "कब से है ? कहाँ है? कैसा है ? डॉक्टर को बुलाऊँ ?"

सरला असह्य वेदना से कराह रही थी, अतः वह कुछ बोल नहीं सकी।

कुछ उत्तर न पाकर निजानन्द ने तुरन्त अपने दो-तीन मित्र डॉक्टरों को फोन घुमाया। डॉक्टर भी बेचारे तुरन्त आ गये। देखा, परखा और तत्काल अस्पताल में भर्ती कराया। जाँचें हुई, रिपोर्ट देख डॉक्टरों का चेहरा उतर गया।

निजानन्द ने जिज्ञासा प्रगट की – "क्या बात है डॉक्टर ! उदास क्यों हो गये ?"

डॉक्टर ने आश्वस्त किया – "चिन्ता जैसी तो कोई बात नहीं है; परन्तु .....!"

"परन्तु क्या ?" – गम्भीर होकर निजानन्द ने पूछा।

डॉक्टर ने अलग ले जाकर धीरे से कहा – "भाभीजी को कैन्सर है और दूसरी स्टेज पर पहुँच गया है। अतः अविलम्ब उपचार की जरूरत है, अन्यथा जीवन को खतरा हो सकता है। ऑपरेशन भी कभी भी करना पड़ सकता है। ऑपरेशन भी बड़ा ही होगा। अतः उसके लिए भी अभी से मानस बनाना होगा।"

निजानन्द के चेहरे पर चिन्ता की रेखायें स्पष्ट झलकने लगीं, जिन्हें सरला ने भाँप लिया। वह समझ गई कि जरूर कुछ दाल में काला है।

सरला गम्भीर हो गई और उसे विचार आया – "भले ये बतायें या न बतायें; परन्तु अब अपने को तो सँभल ही जाना है। कितना अच्छा रहा, जो समय रहते सब कुछ समझ में आ गया। अन्यथा यह दुर्लभ मनुष्य पर्याय यों ही चली जाती।

अहा .....! जब भली होनहार होती है तो सब कारण-कलाप भी सहज ही मिल जाते हैं। यह बिलकुल सही बात है कि जितने जल्दी बने अपने आत्मकल्याण में जुट ही जाना चाहिए।

देखो, न ! क्या हुआ उस 'साठा सो पाठा' कहावत का ? यों ही धरी रह गई न ? अरे ! मेरे तो बचपने में ही निकल गये पूरे पचपन वर्ष। यदि ये हाथ धोकर पीछे नहीं पड़े होते तो मैं तो अभी भी अटकी ही थी न घर गृहस्थी के गोरख धंधे में।

वह 'रेंहटवाला' उदाहरण कितना अच्छा था, इनका जिसमें इन्होंने बताया था कि – आत्मा का कल्याण करना हो तो बाल बच्चों और घर-गृहस्थी की इस चैं-चैं, पैं-पैं में ही करना होगा, अन्यथा उस घोड़े की तरह हम भी तत्त्वज्ञान का अमृत पिये बिना प्यासे ही रह जायेंगे।"

यह सब सोचते-सोचते सरला के कुछ वाक्य ऊँची आवाज में भी निकलने लगे थे। मानो वह दीवालों से बातें कर रही हो।

इसी बीच सुनीता, विनीता और अनीता ने सरला को देखने के लिए उसके कमरे में प्रवेश किया तो उनके कानों में ये शब्द पड़ गये कि – 'उस घोड़े की तरह हम भी .....।'

सुनीता ने पूछा – सरला ! तबियत कैसी है ? तू किस घोडे की बात कह रही थी और किससे कह रही थी ? यहाँ

सुननेवाला तो और कोई भी नजर नहीं आ रहा है।

ओह ! आ गईं तुम लोग ? आओ, बैठो; तबियत को क्या हुआ ? तबियत तो ठीक ही है। थोड़ा सा पेट में दर्द रहा करता था। वैसे तो महीनों से सहती रही। सोचती थी – धीरे-धीरे ठीक हो जायेगा। जब दर्द कुछ अधिक हो गया तो दिखाना पड़ा। पता नहीं अकेले में ले जाकर डॉक्टर ने क्या कह दिया इनसे ? डॉक्टर की बात सुनकर इनका तो चेहरा ही फक्क पड़ गया। यद्यपि इन्होंने मुझे अबतक भी कुछ नहीं बताया; पर मैं इतना तो पहले ही समझ ही गई थी कि – जरूर कोई बड़ी बीमारी है। तभी से मैंने स्वयं को बहुत कुछ सँभाल लिया है। पर अब तो कोई विशेष बात ही है, ये छोटी-मोटी बातों से घबड़ानेवाले तो हैं नहीं।

मैंने तो सोच लिया – जो होना है होगा तो वही; पर अब अपने को तो महा प्रयाण के लिए सावधान हो ही जाना चाहिए।

बस यही सोचते-सोचते वह 'चैं-चैं, पैं-पैं' में ही घोड़े को पानी पिलानेवाला उदाहरण याद आ गया जो इन्होंने प्रवचन में दिया था। वे ही शब्द ऊँची आवाज में मुँह से निकल गए।"

संयोग से अनीता उस दिन के प्रवचन में आ नहीं सकी थी, अतः वह पीछे पड़ गई। वह उदाहरण तो सुनाना ही पड़ेगा।

सरला ने कहा – "एक राजा साहब घोड़े पर सवार होकर घूमने निकले। रास्ते में कुँए से पानी निकालने के लिए रेंहट (पानी निकालने का देसी यंत्र) चल रहा था। घोड़ा प्यासा था, वह कुँए के पास पहुँचा। वहाँ रेंहट की चैं-चैं, पैं-पैं की आवाज से घोड़ा पानी नहीं पी पा रहा था। राजा ने आदेश के स्वर में कहा – रेंहट बन्द करो ! आदेश का पालन हुआ। रेंहट बन्द कर दिया। रेंहट बन्द होते ही पानी आना बन्द हो गया। फिर आदेश हुआ – रेंहट चालू करो। पुनः आदेश का पालन हुआ, रेंहट चालू किया

गया तो फिर पानी आने के साथ चैं-चैं, पैं-पैं प्रारम्भ हो गई।

इससे राजा साहब हैरान हो गये, उन्होंने सोचा – 'अब क्या किया जाय ?'

तब रेंहटवाले किसान ने गम्भीरता से कहा – 'महाराज ! यदि घोड़े को पानी पिलाना है तो इसी चैं-चैं, पैं-पैं में पिलाना पड़ेगा। देखा नहीं आपने ! चैं-चैं, पैं-पैं बन्द होते ही पानी बन्द हो जाता है।'

ठीक यही स्थिति मानवजीवन में गृहस्थों की है। जब तक बच्चों की चैं-चैं, पैं-पैं बन्द होगी, तबतक सांसों का आना-जाना बन्द हो जायेगा, जीवन समाप्त हो जायेगा। अतः इसी स्थिति में आत्मकल्याण का काम भी करना अनिवार्य है।

मैं यही सोच रही थी, जिसके कुछ शब्द तुम्हारे कान में पड़ गये हैं।"

अनीता ने कहा – "बात तो शत-प्रतिशत सही ही है। अतः लोगों का यह कहना सर्वथा गलत है कि – **'फिर कर लेंगे, फिर कर लेंगे; अरे ! फिर कब कर लेंगे, जब यम के दूत पकड़ लेंगे ?'**

बहिन ! आत्मकल्याण का काम तो इस दुनियादारी की खट-पट में रहते हुए ही चट-पट करना होगा। बाल-बच्चों की इस चैं-चैं में ही करना होगा। यदि इन बाल-बच्चों के बड़े होने की, इनके काम-धन्धे में लगने की, इनके शादी-विवाह होने की प्रतीक्षा में अटके रहे तो जबतक इन झंझटों से निबटेंगे, तबतक हमारा जीवन ही निपट जायेगा। अतः **'शुभस्य शीघ्रं'** की नीति के अनुसार तत्काल निज हित में लग जाना ही हितकर है।

देखो, सरला ! मेरा तो जैसा नाम है, वैसा ही मेरा जीवन था। मैं तो पूरी 'अनीता' थी। नीति-न्याय क्या होता है ? मैं जानती ही नहीं थी। यदि भाई साहब निजानन्दजी का सान्निध्य नहीं

मिलता तो मेरा तो जीवन ही बर्बाद हो जाता। तुम धन्य हो जो तुम्हें निजानन्द जैसे पति मिले हैं।"

सुनीता ने कहा – "देखो, सरला ! हम काम करें, न करें; किसी के भी कारण दुनिया का कोई काम नहीं रुकता। देखो न ! चार दिन से तुम अस्पताल में हो, फिर भी घर के काम हुए या नहीं ? सबने भोजन किया या नहीं ? थोड़ा उन्नीसा हुआ होगा, थोड़ा देर – अबेर से हुआ होगा; पर हुआ तो है ही न ? जब हम नहीं रहेंगे तब फिर क्या हम परलोक से आयेंगे यहाँ का काम निबटाने ? फिर भी तो सब होगा ही ! तो क्यों न हम जीते जी अपने को अपने में ही समेट लें और अपने में ही जमने-रमने का सम्यक् पुरुषार्थ कर लें ?"

अनीता एवं सुनीता से अपने ही विचारों का समर्थन पाकर सरला प्रसन्न हुई और यही सोचते-सोचते वह आँखें बन्द कर के अपने स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करने लगी। इधर निजानन्द और डॉक्टर ऑपरेशन की तैयारी में लग गए।

यद्यपि मिलनेवालों का ताँता लगा हुआ था; परन्तु अब सरला के पास उनके साथ व्यवहार निभाने का समय ही कहाँ था? लोग आते और सहानुभूति प्रगट कर चले जाते। बस, इसके सिवाय वे बे-चारे और कर भी क्या सकते थे ?

* * *

कैंसर के सफल आपरेशन से मरते-मरते बची – मौत के मुँह से निकली सरला ने संकल्प कर लिया था कि – अब वह आत्म कल्याण और परोपकार के कार्यों के सिवाय और कुछ नहीं करेगी।

अकेले आत्मा के ध्यान और अध्ययन में तो अधिक समय तक उपयोग लगता नहीं; अतः शेष समय का सदुपयोग वह परोपकार में ही करेगी; क्योंकि पढ़ते समय उसने महाकवि

तुलसीदासजी की यह पंक्ति पढ़ी थी – **'परहित सरिस धरम नहिं भाई'**; परन्तु समस्या यह थी कि परोपकार का क्षेत्र तो बहुत व्यापक है, बड़ा है और उसके पास समय व शक्ति सीमित है। वह अपनी सीमित शक्ति का सदुपयोग कैसे करे ?

उसने सोचा – "प्यासों को पानी पिलाकर उनका मात्र दो घण्टे का दुःख दूर किया जा सकता है, भूखों को भोजन देकर मात्र आठ घण्टे की भूख मिटाई जा सकती है, बीमारों को औषधिदान देकर किसी बीमारी विशेष से चार-छः माह को राहत दिलाई जा सकती है, वस्त्र विहीन दरिद्रियों को वस्त्रों का दान देकर उनकी क्षणिक लाज बचाई जा सकती है।

इसीप्रकार इक्के-दुक्के आजीविकाभ्रष्ट जनों को छोटी-मोटी पूँजी का अंशदान देकर, लौकिक शिक्षा के साधन जुटाकर, सर्विस के योग्य बनाकर, सिर छिपाने को घर की व्यवस्था और आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान के नाम पर क्षणिक दुःख दूर किया जा सकता है; परन्तु ऐसा करने से अनन्त जीवों के अनन्तकाल से हो रहे अनन्त दुख दूर नहीं किए जा सकते। अतः मुझे तो इस सम्बन्ध में पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी की सलाह ही सर्वश्रेष्ठ लगती है।

वे कहते हैं – 'तत्त्वज्ञान का दान देना ही सर्वोत्तम उपकार है। तीर्थंकर आदि भी ऐसा ही उपकार करते हैं। अतः क्यों न अपने शेष जीवन को तत्त्वाभ्यास एवं तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में ही सम्पूर्णतया समर्पित कर दिया जाय ? और इसके लिए जिन साधनों की आवश्यकता हो; उन्हीं को जुटाने में अपने अर्जित धन का भी सदुपयोग क्यों न किया जाये ?

हाँ, केवल तन-मन-धन से यह काम नहीं होगा। इसके लिए जनशक्ति की भी जरूरत होगी। एतदर्थ

युवक-युवतियों का कोई ऐसा संगठन बनाया जाय, जिसके द्वारा विभिन्न योजनाओं के माध्यम से तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की गतिविधियाँ सञ्चालित रहें। तथा –

यह संगठनरूपी धर्म वृक्ष सम्पूर्ण मनोरथों को पूरा करनेवाले कल्पवृक्ष के रूप में फूलता-फलता हुआ वट वृक्ष की भाँति अपनी जड़े गहरी जमाकर सहस्रों वर्षों तक सुख-शान्ति की घनीभूत छाया प्रदान करता रहे।"

सुनीता, विनीता और अनीता आदि सभी सहेलियों ने सरला के इस कल्याणकारी श्रेष्ठ विचार की हार्दिक अनुमोदना की एवं सभी ने इसे क्रियान्वित करने के लिए एवं तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग करने के लिए दृढ़ संकल्प ले लिया।

•